

Chapter बाईस

चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट

मैत्रेय उवाच

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् ।
तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; जनेषु—नागरिक; प्रगृणत्सु—प्रार्थनारत; एवम्—इस प्रकार; पृथुम्—महाराज पृथु को; पृथुल—अत्यधिक; विक्रमम्—शक्तिशाली; तत्र—वहाँ; उपजग्मुः—आये; मुनयः—कुमार; चत्वारः—चारों; सूर्य—सूर्य के समान; वर्चसः—तेजस्वी।

महामुनि मैत्रेय ने कहा : जिस समय सारे नागरिक परम शक्तिमान महाराज पृथु की इस प्रकार स्तुति कर रहे थे उसी समय वहाँ पर सूर्य के समान तेजस्वी चारों कुमार आये।

तांस्तु सिद्धेश्वरात्राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा ।
लोकानपापान्कुर्वाणान्सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन; तु—लेकिन; सिद्ध—ईश्वरान्—समस्त योग शक्तियों के स्वामी को; राजा—राजा ने; व्योम्नः—आकाश से; अवतरतः—उतरते हुए; अर्चिषा—अपने दिव्य तेज से; लोकान्—लोकों को; अपापान्—पापरहित; कुर्वाणान्—करते हुए; स-अनुगः—अपने पार्षदों सहित; अचष्ट—पहचान लिया; लक्षितान्—उन्हें देखकर।

समस्त योग शक्तियों के स्वामी चारों कुमारों के देदीप्यमान् तेज को देखकर राजा तथा उनके पार्षदों ने उन्हें आकाश से उतरते ही पहचान लिया।

तात्पर्य : चारों कुमारों को सिद्धेश्वरान् कहा गया है, जिसका अर्थ है “समस्त योग शक्तियों के स्वामी।” जो योग में सिद्धि प्राप्त कर सकता है उसे तुरन्त ही आठ प्रकार की यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त

हो जाती हैं। ये हैं—लघिमा, अणिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य इत्यादि। सिद्धेश्वरों के रूप में चारों कुमार सभी यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त कर चुके थे और फलस्वरूप अन्तरिक्ष में यंत्रों के बिना ही यात्रा कर सकते थे। जब वे पृथु महाराज के पास आ रहे थे तो वे किसी विमान से नहीं, अपितु स्वतः आये। दूसरे शब्दों में, ये चारों कुमार अन्तरिक्षयात्री भी थे, जो बिना किसी यान के यात्रा कर सकते थे। सिद्धलोक नामक लोक के निवासी अन्तरिक्ष में एक लोक से दूसरे लोक तक यान के बिना ही यात्रा कर सकते हैं। किन्तु यहाँ पर कुमारों की जिस विशिष्ट शक्ति का उल्लेख हुआ है, वह है कि वे जहाँ भी जाते वह स्थान पापरहित हो जाता था। महाराज पृथु के शासन में इस पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु पापरहित थी, अतः उन्होंने राजा के पास आने का निर्णय लिया। सामान्यतः वे किसी पापमय लोक में नहीं जाते।

तद्दर्शनोद्गतान्प्राणान्प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः ।

ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसको; दर्शन—देखकर; उद्गतान्—अत्यधिक इच्छा प्रकट किये जाने पर; प्राणान्—प्राण; प्रत्यादित्सुः—शान्तिपूर्वक जाते हुए; इव—सदृश; उत्थितः—उठा; स—सहित; सदस्य—पार्षद या अनुयायी; अनुगः—अधिकारी; वैन्यः—राजा पृथु; इन्द्रिय-ईशः—जीवात्मा; गुणान् इव—प्रकृति के गुणों से मानो प्रभावित।

चारों कुमारों को देखकर पृथु महाराज उनके स्वागत के लिए आतुर हो उठे। अतः अपने पार्षदों सहित वे तुरन्त इस तरह तेज़ी से उठ कर खड़े हो गये मानो कोई बद्धजीव प्रकृति के गुणों द्वारा तुरन्त आकृष्ट हो उड़ा हो।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.२७) में कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

प्रत्येक बद्धजीव प्रकृति के गुणों के एक विशेष मेल से प्रभावित होता है। फलतः बद्धजीव विशेष प्रकार के कर्म की ओर आकर्षित होता है और उसे करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। क्योंकि वह भौतिक प्रकृति के पूर्णतः वश में होता है। यहाँ पर पृथु महाराज की तुलना ऐसे बद्धजीव से इसलिए नहीं की गई है कि वे सचमुच बद्धजीव थे, अपितु इसलिए कि वे कुमारों के स्वागत के लिए इतने आतुर थे मानो उनके बिना प्राण निकल जाएँगे। बद्धजीव ऐसी वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है जिनसे इन्द्रियतृप्ति होती है। उसके नेत्र सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखना चाहते हैं, उसके कान मधुर संगीत

सुनना चाहते हैं, नाक सुगन्धित पुष्पों का रसास्वादन करना चाहती है और जिह्वा उत्तम भोजन चखना चाहती है। इसी प्रकार उसकी अन्य इन्द्रियाँ, यथा हाथ, पाँव, पेट, गुप्तांग, मन भी भोग्य पदार्थों के आकर्षण से अपने को रोक नहीं पातीं। इसी प्रकार पृथु महाराज भी चारों कुमारों के स्वागत से अपने को रोक नहीं पा रहे थे। ये कुमार अपने तेज से प्रकाशमान थे, फलतः न केवल राजा, अपितु उनके अनुयायियों तथा सभासदों ने भी उन चारों का स्वागत किया। कहा जाता है कि इस संसार में समान रुचि वाले व्यक्ति एक दूसरे से आकर्षित होते हैं। एक शराबी दूसरे शराबी के प्रति आकृष्ट होता है, इसी तरह साधु पुरुष साधु पुरुष के प्रति आकृष्ट होता है। चूँकि पृथु महाराज सर्वोच्च आध्यात्मिक पद पर थे, अतः वे उसी कोटि के कुमारों के प्रति आकृष्ट हुए। अतः यह उक्ति सही है कि मनुष्य संगति से पहचाना जाता है।

गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः ।

विधिवत्पूजयां चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

गौरवात्—गौरव से; यन्त्रितः—पूर्णतः; सभ्यः—अत्यन्त सभ्य; प्रश्रय—विनीत भाव से; आनत-कन्धरः—अपने कन्धे (गरदन) झुकाए; विधि-वत्—शास्त्रोक्त विधियों से; पूजयाम्—पूजा; चक्रे—सम्पन्न की; गृहीत—स्वीकार करते हुए; अधि—के सहित; अर्हण—स्वागत की सामग्री; आसनान्—आसन पर।

जब वे महान् ऋषिगण शास्त्रविहित ढंग से उनके द्वारा किये गये स्वागत को स्वीकार कर राजा द्वारा प्रदत्त आसनों पर बैठ गये तो राजा उनके गौरव के वशीभूत होकर तुरन्त नतमस्तक हुआ। इस प्रकार उसने चारों कुमारों की पूजा की।

तात्पर्य : ये चारों कुमार वैष्णव सम्प्रदाय के परम्परा-गुरु हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय, कुमार सम्प्रदाय तथा रुद्र सम्प्रदाय—इन चारों सम्प्रदायों में से कुमार सम्प्रदाय इन्हीं चारों कुमारों के नाम में से है। अतः पृथु महाराज सम्प्रदाय-आचार्यों के प्रति अत्यन्त विनयशील थे। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा—*साक्षाद्भरित्वेन समस्तशास्त्रैः*। गुरु अर्थात् परम्परा-आचार्य का भगवान् के ही समान आदर किया जाना चाहिए। इस श्लोक में आगत *विधिवत्* शब्द अत्यन्त सटीक है। इसका यह अर्थ हुआ कि पृथु महाराज ने गुरु या आचार्य का स्वागत करते समय शास्त्रों में बताई विधियों का कड़ाई से पालन किया। जब भी किसी आचार्य का दर्शन हो, मनुष्य को चाहिए कि वह तुरन्त उनके समक्ष नतमस्तक हो। पृथु महाराज ने *विधिवत्* यह क्रिया सम्पन्न की, अतः यहाँ पर *प्रश्रयानत-कन्धरः*

शब्द आये हैं। विनयवश वे कुमारों के समक्ष झुक गये।

तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः ।

तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्-पाद—उनके चरणकमल; शौच—धुला; सलिलैः—जल से; मार्जित—छिड़का गया; अलक—बाल; बन्धनः—जूड़ा, राशि; तत्र—वहाँ; शीलवताम्—सम्मानित पुरुषों के; वृत्तम्—आचरण; आचरन्—आचरण करते हुए; मानयन्—अभ्यास करते हुए; इव—सदृश।

तत्पश्चात् राजा ने कुमारों के चरणकमलों के धोये हुए जल को लेकर अपने बालों पर छिड़का। ऐसे शिष्ट आचरण से राजा ने आदर्श पुरुष की तरह यह प्रदर्शित किया कि आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति का किस प्रकार सम्मान करना चाहिए।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है।— आपनि आचरि प्रभु जीवेरे शिखाय। यह सर्वविदित है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने आचार्य के रूप में जो शिक्षा दी उसे वे अपने जीवन में उतारते थे। यद्यपि अनेक महापुरुषों ने उन्हें श्रीकृष्ण के अवतार के रूप में पहचान लिया था, किन्तु जब वे भक्त के रूप में उन्हें उपदेश देते थे, वे कभी भी अवतारी कहलाना पसन्द नहीं करते थे। भले ही कोई श्रीकृष्ण का अवतार या भगवान् का शक्त्यावेशावतार हो, किन्तु उसे इसको विज्ञापित नहीं करना चाहिए कि वह अवतार है। लोग स्वयं ही कालक्रम में सचाई जान लेंगे। पृथु महाराज आदर्श वैष्णव राजा थे, अतः वे अपने निजी आचरण से दूसरों को सिखाना चाहते थे कि कुमारों के समान महापुरुषों का किस प्रकार स्वागत-सत्कार करना चाहिए। यह वैदिक प्रथा है कि जब कोई साधु पुरुष किसी के घर जाये तो वह चरण पखार कर चरणोदक को अपने तथा परिवार के व्यक्तियों के सिर के ऊपर छिड़के। पृथु महाराज ने ऐसा किया, क्योंकि वे जनता के आदर्श शिक्षक थे।

हाटकासन आसीनान्स्वधिष्येष्विव पावकान् ।

श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

हाटक-आसने—सोने के बने सिंहासन पर; आसीनान्—बैठे हुए; स्व-धिष्येषु—बलिवेदी पर; इव—मानो; पावकान्—अग्नि; श्रद्धा—सम्मान; संयम—संयम; संयुक्तः—से विभूषित; प्रीतः—प्रसन्न; प्राह—कहा; भव—शिवजी; अग्र-जान्—से बड़े।

चारों मुनि शिवजी से भी ज्येष्ठ थे और जब वे सोने के बने हुए सिंहासन पर बैठा दिये गये तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वेदी पर अग्नि प्रज्वलित हो रही हो। महाराज पृथु ने उनसे

अत्यन्त शिष्टता तथा सम्मानपूर्वक बड़े ही संयमित स्वर में कहा।

तात्पर्य : कुमारों को शिवजी का अग्रज बताया गया है। जब ब्रह्माजी के शरीर से कुमारों की उत्पत्ति हुई तो इनसे विवाह करने और जनसंख्या बढ़ाने के लिए कहा गया। चूँकि सृष्टि के प्रारम्भ में जनसंख्या बढ़ाना आवश्यक था, अतः ब्रह्माजी एक-एक करके पुत्रों को जन्म देते जा रहे थे और उन्हें वृद्धि करने का आदेश देते जाते थे। किन्तु जब कुमारों से कहा गया तो उन्होंने इनकार कर दिया। वे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहकर भगवान् की सेवा में तत्पर रहना चाह रहे थे। इन कुमारों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे कभी विवाह नहीं करेंगे। विवाह से इनकार करने के कारण ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उनकी आँखें लाल-लाल हो गईं। तब उनके नेत्रों के मध्य से शिवजी या रुद्र प्रकट हुए। फलस्वरूप क्रोध गुण को रुद्र कहा जाता है। शिवजी का भी अपना सम्प्रदाय है, जो “रुद्र सम्प्रदाय” कहलाता है। ये लोग भी वैष्णव कहलाते हैं।

पृथुरुवाच

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।

यस्य वो दर्शनं ह्यासीदुर्दर्शानां च योगिभिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—राजा पृथु ने कहा; अहो—हे भगवान्; आचरितम्—अभ्यास; किम्—क्या; मे—मेरे द्वारा; मङ्गलम्—कल्याण; मङ्गल-आयनाः—हे साक्षात् कल्याण; यस्य—जिससे; वः—तुम्हारा; दर्शनम्—दर्शन; हि—निश्चय ही; आसीत्—सम्भव हो सका; दुर्दर्शानाम्—कठिनाई से दृश्य, दुर्लभ; च—भी; योगिभिः—योगियों द्वारा।

राजा पृथु ने कहा : हे साक्षात् कल्याणमूर्ति महामुनियो, आपका दर्शन तो योगियों के लिए भी दुर्लभ है। निस्सन्देह आपका दर्शन दुर्लभ है। मैं नहीं जानता कि मुझसे ऐसा कौन-सा पुण्य बन पड़ा है, जिससे आप मेरे समक्ष इतनी सहजता से प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : जब किसी के आध्यात्मिक जीवन में कुछ असाधारण घटना घटती है, तो यह समझना चाहिए कि किसी अज्ञात-सुकृति अर्थात् किसी अज्ञात पुण्य कर्म से ऐसा हुआ है। भगवान् या उनके शुद्ध भक्त का दर्शन प्राप्त कर पाना कोई साधारण घटना नहीं है। जब ऐसी घटनाएँ घटें तो इन्हें पूर्व पुण्यकर्मों का परिणाम समझना चाहिए जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (७.२८) में हुई है—येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। जो व्यक्ति समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो जाता है और केवल पुण्यकर्मों में लगा रहता है, वही भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। यद्यपि महाराज पृथु का जीवन पुण्यकर्मों

से ओतप्रोत था, तो भी उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि उन्हें कुमारों के दर्शन किस प्रकार हो सके। उन्हें इसका अनुमान ही नहीं हो रहा था कि उन्होंने किस प्रकार के पुण्यकर्म किये होंगे। यह राजा पृथु की विनयशीलता का चिह्न है, जिन का जीवन पुण्यकर्मों के कारण इतना भरा हुआ था कि उनको भगवान् विष्णु तक ने दर्शन दिये थे और भविष्यवाणी की थी कि कुमार भी उन्हें दर्शन देंगे।

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च ।

यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; तस्य—उसका; दुर्लभ-तरम्—अत्यन्त कठिनाई से प्राप्य; इह—इस; लोके—संसार में; परत्र—मृत्यु के पश्चात्; च—अथवा; यस्य—जिसका; विप्राः—ब्राह्मण या वैष्णव; प्रसीदन्ति—प्रसन्न हो जाते हैं; शिवः—सर्व-कल्याणमय; विष्णुः—भगवान् विष्णु; च—भी; स-अनुगः—साथ-साथ चलने वाले।

जिस पर ब्राह्मण तथा वैष्णव प्रसन्न हो जाते हैं, वह व्यक्ति इस संसार में तथा साथ ही मृत्यु के बाद भी दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु प्राप्त कर सकता है। यही नहीं, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ-साथ रहने वाले कल्याणकारी शिव तथा भगवान् विष्णु का भी उस व्यक्ति को अनुग्रह प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य : ब्राह्मण तथा वैष्णव तो परम कल्याणमय भगवान् विष्णु के संवाहक हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में इसकी पुष्टि हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भक्तगण भगवान् गोविन्द के अत्यन्त प्रेमवश उन्हें सदा अपने हृदयों में धारण करते हैं। भगवान् तो पहले से सबों के हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु वैष्णव तथा ब्राह्मण प्रेम विभोर होने पर सदैव उनका दर्शन करते हैं। फलतः ब्राह्मण तथा वैष्णव विष्णु को भी धारण करने वाले हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, भगवान् विष्णु, शिवजी अथवा भगवान् के भक्त भी उनके साथ हो लेते हैं। चारों कुमार ब्राह्मण थे और वे महाराज पृथु के स्थान पर गये थे, अतः स्वाभाविक था कि भगवान् विष्णु तथा उनके भक्त भी वहाँ उपस्थित थे। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि जब किसी व्यक्ति पर ब्राह्मण तथा वैष्णव

प्रसन्न होते हैं, तो भगवान् विष्णु भी प्रसन्न होते हैं। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा आठ श्लोकों में की गई गुरु-स्तुति से होती है— *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः* । यदि गुरु को, जो ब्राह्मण तथा वैष्णव दोनों ही होता है, प्रसन्न कर लिया जाय तो भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। और यदि भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तो इस संसार में या मृत्यु के बाद मनुष्य को और क्या प्राप्त करने को रह जाता है ?

नैव लक्षयते लोको लोकान्पर्यटतोऽपि यान् ।

यथा सर्वदृशं सर्वं आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—इस प्रकार; लक्षयते—देख सकते हैं; लोकः—लोग; लोकान्—समस्त लोकों में; पर्यटतः—विचरण करते; अपि—यद्यपि; यान्—जिसको; यथा—जिस तरह; सर्व-दृशम्—परमात्मा; सर्वे—सबों में; आत्मानम्—प्रत्येक प्राणी के भीतर; ये—जो; अस्य—इस जगत के; हेतवः—कारण।

पृथु महाराज ने आगे कहा : यद्यपि आप समस्त लोकों में विचरण करते रहते हैं, किन्तु लोग आपको नहीं जान पाते, जिस प्रकार वे प्रत्येक हृदय में वास करने वाले और प्रत्येक वस्तु के साक्षी परमात्मा को नहीं जान पाते। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिव भी परमात्मा को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है— *मुह्यन्ति यत् सूरयः* । कभी-कभी ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र जैसे देवता भी भगवान् को समझ नहीं पाते। जब श्रीकृष्ण इस लोक में थे तो ब्रह्मा तथा इन्द्र ने भी उन्हें गलत समझा। तो फिर योगियों या ज्ञानियों का क्या कहना जो भगवान् को निर्गुण मानते हैं ? इसी प्रकार चारों कुमार जैसे महापुरुष तथा वैष्णव भी सामान्य पुरुषों से अदृश्य रहते हैं, यद्यपि वे विभिन्न लोकों में सदैव विचरण करते रहते हैं। जब सनातन गोस्वामी भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन हेतु गये तो चन्द्रशेखर आचार्य उन्हें नहीं पहचान पाये। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भगवान् प्रत्येक हृदय में स्थित हैं और वैष्णव भी जो उनके शुद्ध भक्त हैं संसार भर में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु भौतिक संसार की माया से ग्रस्त लोग इस सृष्टि के अथवा वैष्णवों के स्रोत रूप भगवान् के रूप को नहीं समझ पाते। अतः यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने भौतिक नेत्रों से न तो भगवान् को देख सकता है और न ही वैष्णव को, उसे अपनी इन्द्रियों को शुद्ध करके भगवान् की सेवा करनी होती है। तभी क्रमशः वह अनुभव कर सकता है कि भगवान् कौन हैं और वैष्णव कौन है।

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः ।

यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अधना:—निर्धन; अपि—यद्यपि; ते—वे; धन्याः—धन्य हैं; साधवः—साधु पुरुष; गृह-मेधिनः—गृहस्थ लोग; यत्-गृहाः—जिनके घर; हि—निश्चय ही; अर्ह-वर्य—अत्यन्त पूज्य; अम्बु—जल; तृण—घास; भूमि—स्थल; ईश्वर—स्वामी; अवराः—दास ।

कोई भी व्यक्ति जो धनवान हो तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहा हो, वह भी अतीव धन्य हो जाता है, जब उसके घर में साधु पुरुष उपस्थित होते हैं। गृह स्वामी तथा सेवक, जो सम्मान्य अतिथियों को जल, आसन तथा स्वागत सामग्री प्रदान करने में लगे रहते हैं, वे धन्य हो जाते हैं और वह घर भी धन्य हो जाता है।

तात्पर्य : यदि कोई मनुष्य अधिक धनी नहीं होता तो वह धन्य नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पारिवारिक जीवन के प्रति अधिक आसक्त होता है, तो वह भी धन्य नहीं है। किन्तु साधु पुरुष निर्धन अथवा गृहस्थ के घर जाने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। जब ऐसा होता है, तो घर का स्वामी तथा उसके सेवक धन्य हो जाते हैं, क्योंकि वे साधु पुरुषों के चरण-प्रक्षालन के लिए जल प्रदान करते हैं, उन्हें आसन देते हैं और उनके स्वागत की अन्य वस्तुएँ देते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई साधु पुरुष किसी साधारण व्यक्ति के भी घर जाता है, तो उसके आशीर्वाद से वह व्यक्ति धन्य हो जाता है। अतः यह वैदिक पद्धति है कि आशीर्वाद लने के लिए गृहस्थ द्वारा किसी साधु पुरुष को आमंत्रित किया जाता है। यह पद्धति आज भी भारत में प्रचलित है। अतः साधु पुरुष जहाँ कहीं भी जाते हैं, गृहस्थ उनका सत्कार करते हैं और बदले में उनसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे गृहस्थों पर अनुग्रह करने के लिए भ्रमण करते रहें, क्योंकि वे आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों के प्रति प्रायः अनजान होते हैं।

यह तर्क किया जा सकता है कि सभी गृहस्थ इतने धनवान नहीं कि वे बड़े-बड़े साधु पुरुषों का सत्कार कर सकें, क्योंकि उनके साथ सदा उनके शिष्य भी रहते हैं। यदि कोई गृहस्थ किसी साधु पुरुष को आतिथ्य प्रदान करता है, तो उसे उनके साथ वालों का भी सत्कार करना होता है। शास्त्रों में बताया गया है कि दुर्वासा मुनि के साथ साठ हजार शिष्य रहते थे और यदि उनके सत्कार में तनिक भी त्रुटि हो जाती तो वे अत्यन्त कुपित होते और कभी-कभी अतिथिसेवी को शाप भी दे देते थे। वस्तुतः हर एक गृहस्थ, चाहे उसकी स्थिति या आर्थिक दशा कैसी ही क्यों न हो, भक्तिपूर्वक साधु पुरुषों का

सम्मान कर सकता है और उन्हें कम से कम पानी तो पीने को दे ही सकता है, क्योंकि पानी सर्वत्र प्राप्य है। भारतवर्ष की प्रथा है कि यदि अचानक कोई सामान्य व्यक्ति भी आ जाए तो यदि गृहस्थ उसे भोजन नहीं दे सके तो पीने को जल तो देता ही है। यदि जल भी न हो तो बैठने को आसन या चटाई ही दे। यदि चटाई भी न हो तो भूमि को झाड़ कर उसी पर बैठाए। यदि वह यह भी न कर सके, तो हाथ जोड़कर वह यह कहकर अतिथि को ले सकता हैं आपका स्वागत है! यदि इतना भी न कर पाये तो उसे अपनी दीन-हीन दशा पर तरस आनी चाहिए और आँसू बहाने चाहिए और समस्त परिवार, पत्नी तथा सन्तान सहित केवल प्रणाम करना चाहिए। इस प्रकार वह किसी भी अतिथि को, चाहे वह साधु पुरुष हो या राजा हो, प्रसन्न कर सकता है।

व्यालालयद्रुमा वै तेष्वरिक्ताखिलसम्पदः ।

यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

व्याल—विषैले सर्प; आलय—घर; द्रुमाः—वृक्ष; वै—निश्चय ही; तेषु—उन घरों में; अरिक्त—अत्यधिक; अखिल—समस्त; सम्पदः—ऐश्वर्य, वैभव; यत्—जो; गृहाः—घर; तीर्थ-पादीय—साधु पुरुषों के चरणों का; पाद-तीर्थ—चरणों के प्रक्षालन से प्राप्त जल; विवर्जिताः—रहित।

इसके विपरीत जिस गृहस्थ के घर में भगवान् के भक्तों के चरण नहीं पड़ते और जहाँ उन चरणों के प्रक्षालन के लिए जल नहीं रहता, वह घर समस्त ऐश्वर्य तथा धन-सम्पन्न होते हुए भी ऐसे वृक्ष के तुल्य माना जाता है, जिसमें केवल विषैले सर्प रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में तीर्थ-पादीय शब्द का अर्थ भगवान् विष्णु के भक्त या वैष्णव है। जहाँ तक ब्राह्मणों की बात है, पिछले श्लोक में उनके स्वागत के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इस श्लोक में वैष्णवों पर विशेष बल दिया गया है। सामान्यतः संन्यासी लोग गृहस्थों को सन्मार्ग दिखाने का कार्य करते हैं। कुछ संन्यासी एकदंडी होते हैं और कुछ त्रिदंडी संन्यासी होते हैं। एकदण्डी संन्यासी शंकराचार्य के अनुयायी होते हैं और मायावादी संन्यासी कहलाते हैं। त्रिदंडी संन्यासी वैष्णव आचार्यों—यथा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के अनुयायी होते हैं और ये गृहस्थों को उपदेश देते हैं। एकदंडी संन्यासी शुद्ध ब्रह्मपद पर स्थित हो सकते हैं, क्योंकि वे भली-भाँति अवगत रहते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है, किन्तु वे मुख्यतः निर्विशेषवादी होते हैं। वैष्णव परम सत्य को परम पुरुष मानते हैं और ब्रह्मतेज को भगवान् के आश्रित मानते हैं, जैसाकि भगवद्गीता (१४.२७) में पुष्टि हुई

है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि तीर्थपादीय वैष्णवों के लिए ही प्रयुक्त है। *भागवत* (१.१३.१०) में एक अन्य प्रसंग भी मिलता है—*तीर्थोऽकुर्वन्ति तीर्थानि*। वैष्णव जिस किसी भी स्थान में जाता है, वह तीर्थ बन जाता है। वैष्णव संन्यासी अपने चरणकमलों के स्पर्श से प्रत्येक स्थान को तीर्थ बनाने के लिए विश्व-भर का भ्रमण करते रहते हैं। यहाँ इसका उल्लेख है कि जिस घर में वैष्णव का स्वागत पिछले श्लोक में वर्णित विधि से नहीं होता, उसे विषधरों का आवास समझना चाहिए। कहा जाता है कि चन्दन जैसे बहुमूल्य वृक्ष के चारों ओर विषैला सर्प रहता है। चन्दन वृक्ष अत्यन्त शीतल होता है और विषैला सर्प अपने विषैले दाँत के कारण अत्यन्त तप्त रहता है, अतः शीतल बनने के उद्देश्य से वह चन्दन वृक्ष की शरण ग्रहण करता है। इसी प्रकार ऐसे अनेक धनिक पुरुष हैं, जो अपने द्वार पर कुत्ते या चौकीदार रखते हैं और द्वार पर ऐसे पट्ट लगा देते हैं जैसे “प्रवेश वर्जित है,” “राहगीरों का प्रवेश निषिद्ध है,” “कुत्तों से सावधान” इत्यादि। पाश्चात्य देशों में तो कभी-कभी अनधिकार प्रवेश करने वाले को गोली मार दी जाती है और इसकी गणना अपराध में नहीं होती। यह आसुरी गृहस्थों की स्थिति है और ऐसे घरों को विषैले सर्पों का आगार समझा जाता है। ऐसे परिवार के सदस्य सर्पों से तनिक भी अच्छे नहीं हैं, क्योंकि सर्प अत्यन्त ईर्ष्यालु होते हैं और जब वे साधु पुरुषों के प्रति ईर्ष्या करते हैं, तो उनकी स्थिति और भी भयानक हो जाती है। चाणक्य पण्डित ने कहा है कि, ईर्ष्यालु जीव दो प्रकार के होते हैं, सर्प और ईर्ष्यालु मानव। ईर्ष्यालु व्यक्ति तो सर्प से भी अधिक घातक है, क्योंकि सर्प को मंत्रों से या जड़ी-बूटियों से मुग्ध किया जा सकता है, किन्तु ईर्ष्यालु पुरुष को किसी भी साधन से शान्त नहीं किया जा सकता।

स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः ।

चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सु-आगतम्—स्वागत; वः—तुमको; द्विज-श्रेष्ठाः—ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ; यत्—जिसके; व्रतानि—व्रत, संकल्प; मुमुक्षवः—मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुषों के; चरन्ति—आचरण करते हैं; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; धीराः—संयमी; बालाः—बालक; एव—सदृश; बृहन्ति—देते हैं; च—भी।

महाराज पृथु ने चारों कुमारों को ब्राह्मणश्रेष्ठ सम्बोधित करके स्वागत किया और उन्हें कहा कि आपने जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन किया है और यद्यपि आप मुक्ति के अनुभवी नहीं हैं, तो भी आप अपने को छोटे-छोटे बालकों के समान रखते हैं।

तात्पर्य : कुमारों की विशेषता यह है कि वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उन्होंने अपने को चार-पाँच वर्ष के बालकों की भाँति रखा, क्योंकि तरुण होने पर इन्द्रियाँ कभी-कभी विचलित हो उठती हैं और ब्रह्मचर्य धारण कर पाना कठिन हो जाता है। अतः कुमार जान बूझकर बालक बने रहे, क्योंकि बाल्यकाल में इन्द्रियाँ कभी भी वासना से विचलित नहीं होतीं। कुमारों के जीवन का यही महत्व था और इसलिए महाराज पृथु ने उन्हें *ब्राह्मणश्रेष्ठ* कह कर सम्बोधित किया है। ये कुमार न केवल ब्राह्मणश्रेष्ठ (भगवान् ब्रह्मा) की सन्तान थे, वरन् उन्हें यहाँ पर *द्विजश्रेष्ठ* (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ) कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वे वैष्णव भी थे। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, इनका अपना सम्प्रदाय है और वह निम्बार्क सम्प्रदाय के रूप में आज भी चल रहा है। वैष्णव आचार्यों के चार सम्प्रदायों में से निम्बार्क सम्प्रदाय भी एक है। महाराज पृथु ने कुमारों की स्थिति की विशेष रूप से प्रशंसा की, क्योंकि वे आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर रहे थे। किन्तु राजा ने कुमारों को *वैष्णव-श्रेष्ठ* कहकर सम्बोधित किया जिससे वैष्णववाद के प्रति उनकी अत्यधिक रुचि प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वैष्णव के जन्म पर विचार किये बिना उसका सत्कार करे। *वैष्णवे जातिबुद्धिः*। वैष्णव के जन्म पर विचार नहीं किया जाना चाहिए। वैष्णव सदैव ब्राह्मणों में श्रेष्ठ होता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वैष्णव का आदर न केवल ब्राह्मण के रूप में अपितु सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप में करे।

कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।

व्यसनावाप एतस्मिन्पतितानां स्वकर्मभिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; नः—हमारी; कुशलम्—कुशलता; नाथाः—हे स्वामियो; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियतृप्ति ही जीवन लक्ष्य है; अर्थ-वेदिनाम्—जो व्यक्ति केवल इन्द्रियतृप्ति को ही जान पाते हैं; व्यसन—दुर्गुण, बीमारी; आवापे—प्राप्त किया; एतस्मिन्—इस संसार में; पतितानाम्—पतित जनों का; स्व-कर्मभिः—अपनी-अपनी सामर्थ्य से।

पृथु महाराज ने मुनियों से ऐसे व्यक्तियों के विषय में पूछा जो अपने पूर्व कर्मों के कारण इस विपत्तिमय संसार में फँसे हुए हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों को, जिनका एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति है, सौभाग्य प्राप्त हो सकता है?

तात्पर्य : महाराज पृथु ने कुमारों से उनका कुशल नहीं पूछा, क्योंकि वे अपने ब्रह्मचारी जीवन के कारण सदैव कल्याणकारी हैं। चूँकि वे सदैव मुक्तिपथ के गामी हैं, अतः उनके अकुशल होने का कोई

प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में, जो ब्राह्मण तथा वैष्णवजन आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर दृढ़ता से चलते हैं, वे सदैव भाग्यशाली होते हैं। पृथु महाराज ने तो अपने निमित्त यह प्रश्न पूछा था, क्योंकि वे गृहस्थ की स्थिति में थे और राज्याधिकारी थे। राजा लोग केवल गृहस्थ रहकर विषय-सुख में तल्लीन नहीं रहते, अपितु उन्हें कभी कभी पशुओं का शिकार भी करना पड़ता है, क्योंकि उन्हें वध करने की कला का अभ्यास करना होता है, अन्यथा अपने शत्रुओं से युद्ध करना मुश्किल हो जाए। ये बातें शुभ नहीं हैं। क्षत्रियों को चार प्रकार के पापकर्मों की छूट है—अवैध संभोग के लिए स्त्री से संगति, मांसाहार, मादकद्रव्य सेवन तथा द्यूतक्रीड़ा। राजनैतिक कारणों से उन्हें कभी-कभी ये पापकर्म करने होते हैं। क्षत्रिय कभी द्यूतक्रीड़ा से कतराते नहीं। इसका ज्वलन्त प्रमाण पाण्डवों का है। जब दुर्योधन ने पाण्डवों को द्यूतक्रीड़ा के लिए अपना राज्य दाव पर लगाने के लिए ललकारा तो वे उससे इनकार नहीं कर सके और उसी द्यूतक्रीड़ा से उन्होंने अपना सारा राजपाट खो दिया और उनकी पत्नी का भी अपमान हुआ। इसी प्रकार यदि विरोधी पक्ष ललकारे तो क्षत्रिय युद्ध करने से मुख नहीं मोड़ सकते। अतः इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए महाराज पृथु ने पूछा कि क्या कोई शुभ मार्ग है? गृहस्थ जीवन तो अशुभ है, क्योंकि गृहस्थ का अर्थ ही है इन्द्रियतृप्ति का विचार और ज्योंही इन्द्रियतृप्ति हो जाती है, वैसे ही मनुष्य की स्थिति संकट में पड़ जाती है। यह भौतिक जगत पग-पग पर विपदाग्रस्त है—*पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्* (भागवत १०.१४.५८) इस भौतिक संसार में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है इन सभी बातों को स्पष्ट करते हुए पृथु महाराज ने चारों कुमारों से इन पतित बद्धजीवों के बारे में पूछा जो अपने पिछले अशुभ कर्मों के कारण इस भौतिक संसार में दुख भोग रहे हैं। उनके शुभ आध्यात्मिक जीवन की कोई सम्भावना है? इस श्लोक में *इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे उन पुरुषों का संकेत मिलता है जिनका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों की तृप्ति है। इन्हें *पतितानाम्* अर्थात् पतित भी कहा गया है। केवल वही पुरुष उठा हुआ (सिद्ध) समझा जाता है, जो इन्द्रियतृप्ति के समस्त कार्यों को रोक देता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *स्व-कर्मभिः* है। मनुष्य अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मों के कारण ही पतित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों के कारण अपनी पतित अवस्था के लिए उत्तरदायी होता है। जब इन कर्मों के स्थान पर भक्ति की जाती है, तो शुभ जीवन का शुभारम्भ होता है।

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते ।

कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

भवत्सु—आप से; कुशल—सौभाग्य; प्रश्नः—सवाल; आत्म-आरामेषु—सदैव आत्मिक आनन्द में मग्न; न इष्यते—कोई आवश्यकता नहीं होती; कुशल—सौभाग्य; अकुशलाः—अकुशलता; यत्र—जहाँ; न—कभी नहीं; सन्ति—रहते हैं; मति-वृत्तयः—कोरी कल्पना।

पृथु महाराज ने आगे कहा : हे महाशयो, आपसे आपकी कुशल तथा अकुशल पूछने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप नित्य आध्यात्मिक आनन्द में लीन रहते हैं। आप में कुशल तथा अकुशल की मानसिक वृत्तियाँ पाई ही नहीं जाती हैं।

तात्पर्य : श्रीचैतन्य-चरितामृत (अन्त्य ४.१७६) में कहा गया है—

‘द्वैते’ भद्राभद्र-ज्ञान, सब—‘मनोधर्म’।

एइ भाल, एइ मन्द’,—एइ सब ‘भ्रम’॥

इस संसार में शुभ तथा अशुभ केवल मन के भ्रम हैं, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ भौतिक जगत के सम्पर्क के कारण ही विद्यमान हैं। यह आत्म-माया कहलाती है। हम प्रकृति द्वारा अपने को उसी प्रकार उत्पन्न मानते हैं जिस प्रकार कि स्वप्न में हम अनेक वस्तुओं का अनुभव करते प्रतीत होते हैं। फिर भी आत्मा सदैव दिव्य होता है। भौतिक स्वरूप से उसके प्रच्छन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह आवरण स्वप्न या सम्मोह-सा होता है। भगवद्गीता (२.६२) में भी कहा गया है—*सङ्गात् सञ्जायते कामः।* मात्र संगति से अनेक कृत्रिम आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। *ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।* जब हम अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति को भुलाकर भौतिक वस्तुओं का भोग करना चाहते हैं, तो हमारी भौतिक इच्छाएँ प्रकट होती हैं और हम अनेक प्रकार के भोग-विलास के सम्पर्क में आते हैं। ज्योंही भौतिक सुख की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं त्योंही हमारी संगति के कारण उनको भोगने के लिए एक प्रकार की उत्सुकता होती है और जब इस छद्म भोग से हम सुखी नहीं होते तो हममें दूसरा भ्रम उत्पन्न होता है, जिसे क्रोध कहा जाता है और क्रोध के प्रकट होने से भ्रम और भी प्रबल हो जाता है। इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर हम श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूलने लगते हैं; फलस्वरूप हमारी वास्तविक बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इस प्रकार हम इस भौतिक जगत में उलझ जाते हैं। भगवद्गीता (२.६३) में कहा गया है—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

भौतिक संगति से हम अपनी आत्म-चेतना खो बैठते हैं; फलतः शुभ तथा अशुभ का प्रश्न उठता है। किन्तु जो आत्माराम अर्थात् स्वरूपसिद्ध हैं, वे ऐसे प्रश्नों से परे हैं। आत्माराम क्रमशः आत्मिक आनन्द में और अधिक उन्नति करते हुए भगवान् की संगति को प्राप्त होते हैं। यही जीवन की सिद्धि है। प्रारम्भ में कुमार स्वरूपसिद्ध निर्विशेषवादी थे, किन्तु उत्तरोत्तर वे परमेश्वर की लीलाओं के प्रति आकृष्ट होते गये। निष्कर्ष यह निकला कि जो भगवान् की भक्ति में सदैव रत रहते हैं उनके लिए शुभ तथा अशुभ की द्वैतता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पृथु महाराज कुमारों के लिए नहीं, अपितु अपने लिए कुशल-याचना कर रहे हैं।

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम् ।

सम्पृच्छे भव एतस्मिन्क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; अहम्—मैं; कृत-विश्रम्भः—पूरी तरह आश्वस्त होकर; सु-हृदः—मित्र; वः—हमारा; तपस्विनाम्—भौतिक कष्ट सहने वाले; सम्पृच्छे—पूछना चाहता हूँ; भवे—इस संसार में; एतस्मिन्—यह; क्षेमः—अन्तिम वास्तविकता, कल्याण; केन—किस विधि से; अञ्जसा—अविलम्ब; भवेत्—प्राप्त किया जा सकता है।

मैं पूर्ण रूप से आश्वस्त हूँ कि आप जैसे महापुरुष इस संसार की अग्नि में सन्तप्त होने वाले व्यक्तियों के एकमात्र मित्र हैं। अतः मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि इस संसार में हम किस प्रकार जल्दी से जल्दी जीवन का परम उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : जब साधु द्वार-द्वार जाकर उन व्यक्तियों से भेंट करते हैं, जो सांसारिकता में बहुत अधिक लगे हुए हैं, तो यह समझना चाहिए कि वे किसी व्यक्तिगत लाभ से ऐसा नहीं करते। यह तथ्य है कि साधु पुरुष भौतिकतावादी व्यक्तियों के पास वास्तविक कुशलक्षेम के विषय में बताने के लिए जाते हैं। महाराज पृथु को इस बात का पूरा-पूरा विश्वास था, अतः उन्होंने कुमारों से उनका कुशल पूछ कर समय का अपव्यय करने के बजाये उनसे यह जानना उचित समझा कि क्या इस संसार की विषम परिस्थिति से किसी प्रकार उबरा जा सकता है? फिर भी यह महाराज पृथु का कोई निजी प्रश्न न था। यह प्रश्न तो सामान्य जनों को शिक्षा प्रदान करने के लिए उठाया गया था कि जब भी उनकी भेंट किसी साधु पुरुष से हो तो वे तुरन्त उसकी शरण में जाँय और सांसारिक तापों से उबरने का उपाय पूछें, अतः

श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—संसार विषानले दिवानिशि हिया ज्वले, जुडायते ना कैनु उपाय—
 “हम नित्य भौतिक कष्टों से पीड़ित रहते हैं, हमारे हृदय जलते रहते हैं, किन्तु हम इनसे उबरने का कोई उपाय नहीं ढूँढ पाते।” भौतिकतावादी व्यक्ति को तपस्वी भी कहा जा सकता है—अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो नित्य भौतिक तापों को सहता रहता है। उसे इन भौतिक तापों से तभी छुटकारा मिल सकता है जब वह हरे-कृष्ण-मंत्र-संकीर्तन की शरण ले। इसकी व्याख्या नरोत्तमदास ठाकुर ने भी की है—
गोलोकेर प्रेम-धन, हरिनाम-संकीर्तन, रति ना जन्मिल केने ताय। उन्हें इसका पश्चात्ताप था कि वे हरे-कृष्ण-मंत्र की दिव्य ध्वनि के प्रति जो आकर्षण है उसका अनुसरण नहीं कर पाये। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस संसार के सभी व्यक्ति भौतिक तापों से पीड़ित हैं और यदि कोई इनसे छुटकारा पाना चाहता है, तो उसे साधु पुरुषों, या ईश्वर के भक्तों की संगति करनी चाहिए और हरे-कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे-महामंत्र का जप करना चाहिए। भौतिकतावादी व्यक्तियों के लिए एकमात्र यही शुभ मार्ग है।

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः ।

स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट; आत्म-वताम्—अध्यात्मवादियों का; आत्मा—जीवन लक्ष्य; भगवान्—भगवान्; आत्म-भावनः—जीवों को ऊपर उठाने की कामना करने वाले; स्वानाम्—जिनके अपने भक्तगण; अनुग्रहाय—केवल कृपा दिखाने के लिए; इमाम्—इस प्रकार; सिद्ध-रूपी—पूर्णतया स्वरूपसिद्ध; चरति—भ्रमण करते हैं; अजः—नारायण।

भगवान् अपने अंश-रूप जीवों को ऊपर उठाने के लिए सतत इच्छुक रहते हैं और उन्हीं के विषेश लाभ हेतु सारे संसार में आप-जैसे स्वरूपसिद्ध पुरुषों के रूप में भ्रमण करते रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं—यथा ज्ञानी अथवा निर्विशेषवादी, योगी तथा भगवद्भक्त। किन्तु चारों कुमार योगी तथा ज्ञानी पहले थे और भक्त बाद में। वे प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, किन्तु बाद में भक्ति करने लगे, अतः वे अध्यात्मवादियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। भक्त तो भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं और बद्धजीवों को मूल चेतना तक लाने के लिए वे सारे संसार में विचरते रहते हैं तथा बद्धजीवों को कृष्णचेतना के विषय में उपदेश देते हैं। श्रेष्ठ भक्त *आत्मवत्* कहलाते हैं अर्थात् जिन्हें परम-आत्मा का पूरी तरह से बोध हो चुका है। भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं और वे उसे कृष्णचेतना (*कृष्णभावनामृत*) तक ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। अतः

वे *आत्म-भावन* कहलाते हैं। भगवान् प्रत्येक जीव को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह उनके विषय में जान सके। वे प्रत्येक व्यक्ति के सखा रूप में उसके पास उठते-बैठते हैं और प्रत्येक जीवात्मा को उसके इच्छानुरूप सुविधाएँ प्रदान करते रहते हैं।

इस श्लोक में *आत्मवताम्* शब्द महत्वपूर्ण है। भक्तों के तीन भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं—*कनिष्ठ अधिकारी*, *मध्यम अधिकारी* तथा *उत्तम अधिकारी* जो क्रमशः नवदीक्षित, उपदेशक तथा *महाभागवत* अर्थात् सिद्ध भक्त के लिए प्रयुक्त होते हैं। *महाभागवत* वह है, जो न केवल वेदों के पूर्ण ज्ञान से परिचित होता है, वरन् वैदिक साक्ष्य के आधार पर अन्यो को भी आश्चस्त कर सकता है। *महाभागवत* अन्य जीवात्माओं को भी बिना भेदभाव के भगवान् का अंश मानता है। *मध्यम अधिकारी* अर्थात् उपदेशक भी शास्त्रों में पारंगत होता है और अन्यो को भी आश्चस्त कर सकता है, किन्तु वह उपयुक्त तथा अनुपयुक्त में भेद करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह आसुरी जीवात्माओं की तनिक भी परवाह नहीं करता। *कनिष्ठ अधिकारी* अर्थात् नवदीक्षित शास्त्रों के विषय में अधिक नहीं जानता है, किन्तु भगवान् पर उसकी पूरी श्रद्धा होती है। ये चारों कुमार तो *महाभागवत* थे, क्योंकि परम सत्य का भली-भाँति विश्लेषण करने के बाद ही वे भक्त हुए थे। दूसरे शब्दों में, उन्हें वैदिक सूक्त का पूरा-पूरा ज्ञान था। *भगवद्गीता* में भगवान् ने इसकी पुष्टि की है कि भक्त तो अनेक हैं, किन्तु जो वैदिक सूक्त में पारंगत होता है, वह उन्हें सर्वाधिक प्रिय होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उच्चतम पद तक उठना चाहता है। कर्मी जिन्हें देहात्म बोध रहता है, वे अधिकाधिक इन्द्रियतृप्ति चाहते हैं। ज्ञानियों का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्मतेज में मिल जाना है, किन्तु भक्त संसार भर में भगवान् की महिमा का उपदेश देना ही अपना चरम लक्ष्य समझता है। फलतः भक्त ही भगवान् के वास्तविक प्रतिनिधि होते हैं और इसलिए वे प्रत्यक्ष नारायण के रूप में सारे विश्व का भ्रमण करते हैं, क्योंकि उनके हृदयों में नारायण का वास होता है और वे नारायण की महिमा का उपदेश देते हैं। नारायण का प्रतिनिधि नारायण के ही समान होता है, किन्तु उसे मायावादियों की तरह यह नहीं सोच लेना चाहिए कि वह नारायण बन गया है। मायावादी साधारणतः संन्यासी को नारायण कह कर पुकारते हैं। उनका विचार है कि मात्र संन्यास ग्रहण करने से मनुष्य नारायण के तुल्य या साक्षात् नारायण बन जाता है। किन्तु एक वैष्णव का निष्कर्ष इससे भिन्न होता है जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—

साक्षाद्भरित्वेन समस्त-शास्त्रै

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः ।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

वैष्णव विचारधारा के अनुसार भक्त नारायण के ही समान होता इसलिए नहीं है कि वह नारायण बनना चाहता है, अपितु वह नारायण का परम विश्वस्त दास बनना चाहता है। ऐसे महापुरुष सामान्य लोगों के लाभ के हेतु गुरुओं का कार्य करते हैं, अतः जो गुरु नारायण की महिमा का गुणगान करता है उसे नारायण मानकर सब प्रकार से आदर देना चाहिए।

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु ।

स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; पृथोः—राजा पृथु का; तत्—वह; सूक्तम्—वैदिक निष्कर्ष; आकर्ण्य—सुनकर; सारम्—अत्यन्त सारगर्भित; सुष्ठु—युक्तियुक्त, उपयुक्त; मितम्—परिमित, न्यूनतम; मधु—सुनने में मधुर; स्मयमानः—हँसते हुए; इव—सदृश; प्रीत्या—परम प्रसन्नतापूर्वक; कुमारः—ब्रह्मचारी ने; प्रत्युवाच—उत्तर दिया; ह—इस प्रकार।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ सनत्कुमार पृथु महाराज की अत्यन्त सारगर्भित, युक्तियुक्त तथा श्रुतिमधुर वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर हँसे और कहने लगे।

तात्पर्य : कुमारों के समक्ष पृथु महाराज की वार्ता अनेक गुणों से युक्त होने के कारण अत्यन्त श्लाघनीय थी। वाणी को चुने हुए शब्दों से युक्त होना चाहिए जो सुनने में मधुर और स्थिति के अनुकूल हो। ऐसी वाणी ही सार्थक होती है। ये सारे सद्गुण पृथु महाराज की वाणी में विद्यमान थे, क्योंकि वे पूर्ण भक्त थे। कहा गया है कि यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः—“जो व्यक्ति भगवान् में अडिग श्रद्धा रखता है और उनकी सेवा में लगा रहता है, उसमें सारे गुण प्रकट हो आते हैं” (भागवत ५.१८.१२)। इस प्रकार कुमारगण अत्यन्त प्रसन्न हो उठे और सनत्कुमार ने इस प्रकार कहा।

सनत्कुमार उवाच

साधु पृष्ठं महाराज सर्वभूतहितात्मना ।

भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारः उवाच—सनत्कुमार ने कहा; साधु—साधु प्रकृति का; पृष्ठम्—प्रश्न; महाराज—हे राजा; सर्व-भूत—सभी जीवात्माएँ; हित-आत्मना—सबों का हित चाहने वाले के द्वारा; भवता—आपके द्वारा; विदुषा—अत्यन्त विद्वान्; च—तथा; अपि—यद्यपि; साधूनाम्—साधु पुरुषों की; मतिः—बुद्धि; ईदृशी—ऐसी।

सनत्कुमार ने कहा : हे राजा पृथु, आपने मुझसे बहुत ही अच्छा प्रश्न पूछा है। ऐसे प्रश्न, विशेष रूप से आप-जैसे पर-हितकारी द्वारा उठाये जाने के कारण समस्त जीवात्माओं के लिए अत्यन्त लाभप्रद हैं। यद्यपि आप सब कुछ जानते हैं, किन्तु आप ऐसे प्रश्नों को इसीलिए पूछ रहे हैं, क्योंकि यह साधु पुरुषों का आचरण है। ऐसी बुद्धि आपके सर्वथा अनुरूप है।

तात्पर्य : महाराज पृथु दिव्य विज्ञान में पारंगत थे; फिर भी उन्होंने अपने को कुमारों के समक्ष अज्ञानी के रूप में प्रस्तुत किया। इसका उद्देश्य यह है कि भले ही कोई व्यक्ति कितना सम्मान्य क्यों न हो, उसे अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के समक्ष ऐसे ही प्रश्न प्रस्तुत करने चाहिए। उदाहरणार्थ, अर्जुन को समस्त दिव्य विज्ञान प्राप्त था, किन्तु वे श्रीकृष्ण से इस प्रकार पूछ रहे थे मानो उन्हें कुछ ज्ञात ही नहीं था। इसी प्रकार पृथु महाराज सब कुछ जानते थे, किन्तु उन्होंने कुमारों के समक्ष अपने आपको इस प्रकार प्रस्तुत किया मानो वे कुछ भी नहीं जानते थे। तात्पर्य यह है कि महापुरुषों द्वारा भगवान् या उनके भक्तों के समक्ष जो प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं, वे सामान्य लोगों के लाभ के लिए होते हैं। अतः कभी-कभी महापुरुष जान-बूझकर उच्चतर अधिकारी से प्रश्न करते हैं, क्योंकि वे सदैव दूसरों के कल्याण का चिन्तन करते रहते हैं।

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।

यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सङ्गमः—संगति; खलु—निश्चय ही; साधूनाम्—भक्तों की; उभयेषाम्—दोनों के लिए; च—भी; सम्मतः—अभिमत, निर्णायक; यत्—जो; सम्भाषण—विवेचना; सम्प्रश्नः—प्रश्न तथा उत्तर; सर्वेषाम्—सबों का; वितनोति—फैलाता है; शम्—वास्तविक सुख।

जब भक्तों का समागम होता है, तो उनकी विवेचनाएँ, प्रश्न तथा उत्तर वक्ता तथा श्रोता दोनों ही के लिए निर्णायक होते हैं। इस प्रकार ऐसा समागम प्रत्येक व्यक्ति के वास्तविक सुख के हेतु लाभप्रद है।

तात्पर्य : भक्तों के वार्तालाप को सुनना ही भगवान् के सशक्त संदेश को प्राप्त करने का एकमात्र

साधन है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* दीर्घकाल से सारे संसार में, विशेष रूप से पश्चिमी जगत में, विख्यात है, किन्तु भक्तों द्वारा विषय की विवेचना न होने से इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की स्थापना के पूर्व पाश्चात्य जगत का एक भी व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं हुआ। किन्तु जब उसी *भगवद्गीता* को यथारूप में परम्परा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया तो इसका प्रभाव आत्म-साक्षात्कार के रूप में तुरन्त प्रकट हुआ।

चारों कुमारों में से सनत्कुमार ने पृथु महाराज को बताया कि कुमारों से उनकी भेंट से न केवल पृथु महाराज अकेले वरन् उनके साथ-साथ कुमारगण भी लाभान्वित हुए हैं। जब नारद मुनि ने ब्रह्माजी से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में पूछा तो ब्रह्माजी ने नारद जी को धन्यवाद दिया कि उन्होंने भगवान् के विषय में कुछ कहने का अवसर प्रदान किया। अतः किसी दूसरे साधु पुरुष द्वारा किसी अन्य साधु पुरुष से भगवान् के विषय में या जीवन के चरम उद्देश्य के विषय में पूछे गये प्रश्न प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक बना देते हैं। जो कोई भी ऐसी चर्चा का लाभ उठाता है, वह इस जन्म तथा अगले जन्म में सुख प्राप्त करता है।

उभयेषाम् शब्द को कई प्रकार से वर्णित किया जा सकता है। सामान्यतः लोग दो प्रकार के होते हैं—भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी। भक्तों की चर्चाओं से दोनों ही प्रकार के लोग लाभान्वित होते हैं। भौतिकतावादी को भक्तों की संगति से यह लाभ होता है कि उसका जीवन नियमित हो जाता है, जिससे भक्त बनने या जीवात्मा की वास्तविक स्थिति को समझाने के लिए वर्तमान जीवन को सफल बनाने की संभावना बढ़ जाती है। जब मनुष्य इस अवसर का लाभ उठाता है, तो अगले जन्म में उसका मानव देह धारण करना या पूर्णतः मुक्त होकर भगवान् के धाम को जाना सुनिश्चित हो जाता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यदि कोई भक्तों की चर्चा में सम्मिलित होता है, तो उसे भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से लाभ प्राप्त होता है। वक्ता तथा श्रोता एवं कर्मी तथा ज्ञानी समान रूप से लाभान्वित होते हैं। भक्तों के बीच आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्धित चर्चाएँ सबों के लिए लाभप्रद होती हैं। फलतः कुमारों ने यह स्वीकार किया कि इस समागम से न केवल राजा लाभान्वित हो रहा था वरन् कुमार भी लाभ उठा रहे थे।

अस्त्येव राजन्भवतो मधुद्विषः

पादारविन्दस्य गुणानुवादाने ।

रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी

कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अस्ति—है; एव—निश्चय ही; राजन्—हे राजा; भवतः—आपका; मधु-द्विषः—भगवान् का; पाद-अरविन्दस्य—चरणकमलों का; गुण-अनुवादाने—महिमा-गायन में; रतिः—आसक्ति; दुरापा—अत्यन्त कठिन; विधुनोति—धो देती है; नैष्ठिकी—अत्यन्त निष्ठावान्; कामम्—वासनामय; कषायम्—अतिरंजित काम-वासनाएँ; मलम्—गंदा; अन्तः-आत्मनः—अन्तस्तल से।

सनत्कुमार ने आगे कहा : हे राजन्, भगवान् के चरणकमलों के गुणानुवाद के प्रति आपका पहले से ही झुकाव है। ऐसी आसक्ति दुर्लभ होती है, किन्तु एक बार भगवान् में अविचल श्रद्धा हो जाने पर यह अन्तस्तल की समस्त कामवासनाओं को स्वतः ही धो डालती है।

तात्पर्य : भागवत (३.२५.२५) का कथन है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

भगवान् के अनुग्रह से भक्तों की संगति द्वारा भौतिकतावादी पुरुष के हृदय का सारा मैल धुल जाता है। जिस प्रकार पालिश करने के बाद चाँदी चमक उठती है, उसी तरह भक्तों की संगति से भौतिकतावादी पुरुष का हृदय कामवासनाओं से रहित हो जाता है। वास्तव में जीव का भौतिक सुख या कामवासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह तो निद्रा में मानो स्वप्न देखता है। किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से उसकी नींद टूटती है और आत्मा तुरन्त अपनी स्वाभाविक स्थिति को भगवान् के शाश्वत दास के रूप में समझकर अपने यश को प्राप्त करता है। पृथु महाराज पहले से स्वरूपसिद्ध जीव थे, फलतः उनमें भगवान् के गुणानुवाद की सहज प्रवृत्ति थी और कुमारों ने विश्वास दिलाया कि वे भगवान् की माया के शिकार कभी नहीं बन सकते। दूसरे शब्दों में, भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन ही हृदय को भौतिक कल्मष से स्वच्छ रखने का एकमात्र उपाय है। कर्म, ज्ञान तथा योग विधि से कोई भी अपने हृदय के कल्मष को दूर नहीं कर सकता, किन्तु यदि मनुष्य एक बार भक्ति करके भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है, तो बिना किसी कठिनाई के उसके हृदय का सारा मल दूर हो जाता है।

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां
क्षेमस्य स्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शास्त्रेषु—शास्त्रों में; इयान् एव—केवल यह; सु-निश्चितः—ठीक से निर्धारित; नृणाम्—मानव समाज के; क्षेमस्य—कल्याण का; स्यक्—पूर्णतया; विमृशेषु—पूर्ण विचार-विमर्श से; हेतुः—कारण; असङ्गः—विरक्ति; आत्म-व्यतिरिक्ते—देहात्मबुद्धि; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; दृढा—सशक्त; रतिः—आसक्ति; ब्रह्मणि—अध्यात्म; निर्गुणे—गुणों से परे परमेश्वर में; च—तथा; या—जो।

भलीभाँति विचार करने के बाद शास्त्रों में यह निश्चित किया गया है कि मानव समाज के कल्याण का चरम लक्ष्य देहात्मबुद्धि से विरक्ति एवं प्रकृति के गुणों से परे दिव्य परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ आसक्ति है।

तात्पर्य : मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति जीवन का चरम लाभ उठाने में लगा हुआ है, किन्तु जो लोग देहात्मबुद्धि वाले हैं, वे न तो चरम लक्ष्य प्राप्त कर पाते हैं और न यह समझ पाते हैं कि लक्ष्य क्या है। जीवन के चरम लक्ष्य का वर्णन *भगवद्गीता* (२.५९) में मिलता है। *परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य खोज लेता है, तो उसे देहात्मबुद्धि से विरक्ति हो जाती है। इस श्लोक में इंगित हुआ है कि मनुष्य को अध्यात्म—(*ब्रह्मणि*) आसक्ति में वृद्धि करनी चाहिए। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.१) में पुष्टि हुई है—*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—ब्रह्म या अध्यात्म के प्रति जिज्ञासा के बिना मनुष्य सांसारिक आसक्ति को नहीं त्याग पाता। जीव चौरासी लाख योनियों में घूमते हुए मनुष्य जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ पाता, क्योंकि इन सभी योनियों में देहात्मबुद्धि प्रबल रहती है। *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* का अर्थ है कि देहात्मबुद्धि से बाहर निकलने के लिए मनुष्य को ब्रह्म के विषय में या तो जिज्ञासा करनी होती है या आसक्ति बढ़ानी होती है। तभी वह दिव्य भक्ति को प्राप्त कर सकता है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* ब्रह्म के प्रति आसक्ति में वृद्धि का अर्थ है भक्ति में लगना। जो लोग ब्रह्म के निर्गुण रूप के प्रति आसक्त हैं, वे दीर्घकाल तक इसी तरह नहीं रह पाते। निर्विशेषवादी इस जगत को मिथ्या कहकर (*जगन्मिथ्या*) त्यागने के बाद पुनः इसी *जगन्मिथ्या* में आते हैं, भले ही वे ब्रह्म के प्रति आसक्ति को सुदृढ़ करने के लिए संन्यास लेते हों। इसी प्रकार से कई योगी तथा विश्वामित्र जैसे ऋषि, जो परमात्मा स्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के प्रति आसक्त रहते हैं, स्त्रियों के शिकार होकर पतित होते हैं। अतः सभी शास्त्रों में भगवान् के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति का उपदेश मिलता है। संसार से विरक्ति का यही

एकमात्र साधन है और भगवद्गीता (२.५९) में परं दृष्ट्वा निवर्तते के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। भक्ति के प्रति अनुराग बढ़ने से सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द हो सकते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी ईश्वरप्रेम को जीवन का चरम उद्देश्य बताया है (प्रेमा पुमर्थो महान्)। ईश्वरप्रेम बढ़ाये बिना आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया
जिज्ञासयाध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं
पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सा—वह भक्ति; श्रद्धया—श्रद्धा तथा संकल्प से; भगवत्-धर्म—भक्ति; चर्यया—विवेचना से; जिज्ञासया—जिज्ञासा से; अध्यात्मिक—अध्यात्म सम्बन्धी; योग-निष्ठया—आत्मज्ञान में दृढ़ निश्चय से; योग-ईश्वर—भगवान् की; उपासनया—पूजा से; च—तथा; नित्यम्—नियमित रूप से; पुण्य-श्रवः—जिसके सुनने से; कथया—विवेचना से; पुण्यया—पुण्य से; च—भी।

भक्ति करने, भगवान् के प्रति जिज्ञासा करने, जीवन में भक्तियोग का व्यवहार करने, पूर्ण पुरुषोत्तम योगेश्वर भगवान् की पूजा करने तथा भगवान् की महिमा का श्रवण एवं कीर्तन करने से परमेश्वर के प्रति आसक्ति बढ़ाई जा सकती है। ये सारे कार्य अपने आप में परम पवित्र हैं।

तात्पर्य : योगेश्वर शब्द भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है। भगवद्गीता में यह शब्द दो बार आया है। अठारहवें अध्याय (१८.७८) में श्रीकृष्ण को भगवान् हरि कहा गया है, जो समस्त योग-शक्ति के स्वामी हैं (यत्र योगेश्वरः कृष्णः)। छठे अध्याय के अन्त में भी (६.४७) योगेश्वर शब्द की व्याख्या स मे युक्ततमो मतः करके की गई है। युक्ततम से सर्वोच्च योगी अर्थात् भक्त-गण का बोध होता है, जिसे योगेश्वर भी कहा जा सकता है। इस श्लोक में योगेश्वर उपासना का अर्थ है शुद्ध भक्त की सेवा करना। अतः नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायछे केबा—शुद्ध भक्त की सेवा किये बिना आध्यात्मिक जीवन में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। प्रह्लाद महाराज ने भी (भागवत ७.५.३२) कहा है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत् यावत् ॥

मनुष्य को चाहिए कि ऐसे शुद्ध भक्त की शरण में जाए, जो सदैव भक्ति में लगा रहता है और उसे

संसार से कुछ लेना-देना नहीं रहता। केवल उसी की सेवा से मनुष्य भवसागर को पार कर सकता है। इस श्लोक में संस्तुति की गई है (योगेश्वर उपासना) कि मनुष्य को चाहिए कि सर्वोच्च योगी या भक्त के चरणकमलों की सेवा करे। सर्वोच्च भक्त की सेवा का अर्थ होता है उससे भगवान् की महिमा का श्रवण करना। शुद्ध भक्त के मुख से भगवान् की महिमा के श्रवण से पवित्र जीवन का लाभ मिलता है। भगवद्गीता (७.२८) में भी कहा गया है कि पवित्र हुए बिना मनुष्य भक्ति में नहीं जुट सकता।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ति मां दृढव्रताः ॥

भक्ति में स्थित होने के लिए प्रकृति के समस्त भौतिक गुणों के कल्मष को पूरी तरह धो डालना होता है। भक्ति के कार्य में पहली बात है—आदौ गुर्वाश्रयम्—मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु बनाए और उससे दिव्य वृत्तिपरक धर्म (सद्धर्म पृच्छा) के विषय में पूछताछ करे और फिर साधु पुरुषों तथा भक्तों के पदचिह्नों का अनुगमन करे (साधु-मार्ग-अनुगमनम्)। रूप गोस्वामी-कृत भक्तिरसामृत-सिन्धु में ये आदेश दिये गये हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ाने के लिए पहले प्रामाणिक गुरु बनाना होता है और उससे भक्ति की विधियाँ सीखनी होती हैं तथा भगवान् के दिव्य सन्देश एवं महिमा के विषय में सुनना होता है। इस प्रकार मनुष्य को भक्ति के विषय में अपना निश्चय बढ़ाना होता है। तभी भगवान् के प्रति अनुरक्ति बढ़ाने में बहुत आसानी होगी।

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया

तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।

विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि

विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—धन; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आराम—तृप्ति; स-गोष्ठी—अपने संगी सहित; अतृष्णया—वितृष्णा से; तत्—उस; सम्मतानाम्—उनके द्वारा अनुमोदित; परिग्रहेण—अस्वीकृति द्वारा; च—भी; विविक्त-रुच्या—अरुचि; परितोषे—प्रसन्नता; आत्मनि—स्व; विना—रहित; हरेः—भगवान् के; गुण—गुण; पीयूष—अमृत; पानात्—पीने से।

ऐसे लोगों की संगति न करके, जो केवल इन्द्रियतृप्ति एवं धनोपार्जन के फेर में रहते हैं, मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करनी चाहिए। उसे न केवल ऐसे लोगों से दूर रहना

चाहिए, वरन् जो उनका संग करते हैं उनसे भी बचना चाहिए। मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार ढालना चाहिए कि जिसमें उसे भगवान् हरि की महिमा का अमृत पान किये बिना चैन न मिले। इस प्रकार इन्द्रियभोग से विरक्ति उत्पन्न होने पर मनुष्य उन्नति कर सकता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में हर एक व्यक्ति धन तथा इन्द्रियतृप्ति में रुचि रखता है। उसका एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक धन अर्जित करके उसे इन्द्रियों की तुष्टि में व्यय करना होता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने *भागवत* (२.१.३) में भौतिकतावादी पुरुषों के लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

निद्रया हियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।

दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥

भौतिकतावादी पुरुषों का यह अनूठा उदाहरण है। रात्रि में वे छह घंटों से अधिक सो कर या काम-क्रीड़ा में व्यस्त रहकर समय गँवाते हैं। यह तो उनका रात का व्यापार है। प्रातःकाल वे कार्यालय या दुकान में धन कमाने जाते हैं। ज्योंही उनके हाथ में कुछ धन आ जाता है वे अपने बच्चों तथा अन्यो के लिए वस्तुएँ खरीदने में लग जाते हैं। ऐसे लोग जीवन के महत्त्व को कि ईश्वर क्या है, जीवात्मा क्या है और ईश्वर से उसका क्या सम्बन्ध है आदि बातें समझने की कभी परवाह नहीं करते। हालत यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि जो लोग धार्मिक कहलाते हैं, वे भी इस समय केवल इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए हैं। इस कलियुग में अन्य युगों की अपेक्षा भौतिकतावादी पुरुषों की संख्या बढ़कर किसी भी अन्य युग से अधिक हो चुकी है, अतः जो लोग भगवान् के धाम को वापस जाना चाहते हैं उन्हें न केवल सिद्ध पुरुषों की सेवा करनी चाहिए, अपितु उन्हें ऐसे भौतिकतावादी पुरुषों का साथ छोड़ देना चाहिए जिनका एकमात्र उद्देश्य धन कमाना और धन को इन्द्रियतृप्ति में व्यय करना है। उन्हें इन लोगों के उद्देश्य को अर्थात् धन तथा इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है— *भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (भागवत ११.२.४२)। भक्ति में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य भौतिकतावादी जीवन-प्रणाली में रुचि न रखे। जिन विषयों में भक्तों की रुचि होती है उनमें अभक्त कोई रुचि नहीं रखते।

मात्र भौतिकतावादी पुरुषों का निषेध या संगति का बहिष्कार करने से ही काम नहीं चलेगा। हमारे पास काम होना चाहिए। कभी-कभी यह देखा गया है आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा वाले लोग भौतिक

समाज का परित्याग कर निर्जन स्थान में चले जाते हैं, जैसाकि योगियों के लिए बताया गया है, किन्तु इससे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती, क्योंकि अनेक बार ऐसे योगी भी भ्रष्ट होते देखे जाते हैं। जहाँ तक ज्ञानियों का प्रश्न है वे भगवान् के चरणकमलों की शरण न ग्रहण करने के कारण नीचे गिरते हैं। निर्विशेषवादी या शून्यवादी भौतिक संगति से दूर ही रह सकते हैं, बिना भक्ति में निरत हुए वे अध्यात्म में स्थित नहीं रह सकते। भक्ति का प्रारम्भ भगवान् की महिमा के श्रवण से होता है। इस श्लोक में इसी की संस्तुति है— *विना हरेर्गुणपीयूषपानात्*। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की महिमा का अमृत पिये और इसका अर्थ होता है कि सदैव भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन करे। आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की मुख्य विधि यही है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य-चरितामृत* में इसी की संस्तुति की है। यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो भाग्यशाली होने पर गुरु से उसकी भेंट हो सकती है और उसी से वह श्रीकृष्ण के विषय में सीख सकता है। गुरु तथा श्रीकृष्ण दोनों की सेवा से उसे भक्ति का बीज (*भक्ति-लता-बीज*) प्राप्त होता है और यदि वह इस बीज को अपने हृदय में बोकर श्रवण तथा कीर्तन के जल से सींचता है, तो यह विशाल भक्ति लता का रूप धारण कर लेती है। यह लता इतनी प्रबल होती है कि ब्रह्माण्ड के आवरण को भेद कर आत्म-लोक में पहुँच जाती है और तब तक बढ़ती रहती है जब तक श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय नहीं पा लेती, जिस प्रकार कि सामान्य लता छत पर टढ़ आश्रय लेने तक धीरे-धीरे बढ़ती रहती है और फिर उसमें वांछित फल लगने लगते हैं। ऐसे फल के बढ़ने का मूल कारण होता है भक्ति-लता को श्रवण तथा कीर्तन रूपी जल से सींचते जाना। इस फल को यहाँ पर भगवान् की महिमा के श्रवण करने का अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य भक्तों के समाज से बाहर नहीं रह सकता; उसे भक्तों की संगति में रहना चाहिए जहाँ भगवान् की महिमा का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया है, जिससे सैकड़ों इस्कान केन्द्रों में लोगों को श्रवण तथा कीर्तन का सुअवसर प्राप्त हो सके, वे गुरु को पा सकें और भौतिक पुरुषों की संगति से विलग हो सकें। इस प्रकार से लोग भगवान् के धाम वापस जाने की सुदृढ़ आधार-भूमि तैयार कर सकते हैं।

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
 स्मृत्या मुकुन्दाचरिताछयसीधुना ।
 यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
 निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अहिंसया—अहिंसा द्वारा; पारमहंस्य-चर्यया—महान् आचार्यों के चरणचिह्नों का अनुसरण करने से; स्मृत्या—स्मरण करने से; मुकुन्द—भगवान्; आचरित-अछय—उनकी लीलाओं का केवल प्रचार करने से; सीधुना—अमृत से; यमैः—नियामक सिद्धान्तों के पालन से; अकामैः—भौतिक आकांक्षाओं से विहीन; नियमैः—विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करने से; च—भी; अपि—निश्चय ही; अनिन्दया—निन्दा किये बिना; निरीहया—सादा जीवन व्यतीत करते हुए; द्वन्द्व—द्वैतभाव; तितिक्षया—सहिष्णुता से; च—तथा ।

आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह अहिंसक हो, महान् आचार्यों के पदचिह्नों का अनुगमन करे, भगवान् की लीलाओं के अमृत का सदैव स्मरण करे, बिना किसी भौतिक कामना के यम-नियमों का पालन करे और ऐसा करते हुए दूसरों की निन्दा न करे। भक्त को अत्यन्त सादा जीवन बिताना चाहिए और विरोधी तत्त्वों की द्वैतता से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह उन्हें सहन करना सीखे।

तात्पर्य : भक्त वास्तव में साधु पुरुष होते हैं। साधु अथवा भक्त का पहला गुण अहिंसा है। जो लोग भक्ति पथ में चलने या भगवान् के धाम वापस जाने के इच्छुक हैं उन्हें पहले अहिंसा का अभ्यास करना चाहिए। साधु को *तितिक्षवः कारुणिकाः* (भागवत ३.२५.२१) कहा गया है। भक्त को सहिष्णु एवं अन्यो के प्रति अत्यन्त दयालु होना चाहिए; उदाहरणार्थ यदि उसे कोई चोट लगे तो उसे सह लेना चाहिए, किन्तु यदि किसी अन्य को चोट लगे तो भक्त को यह सह्य नहीं होता है। सारा संसार हिंसा से पूर्ण है, अतः भक्त का पहला कार्य है कि वह इस हिंसा को रोके जिसमें पशुओं का वध सम्मिलित है। भक्त न केवल मानव समाज का, अपितु समस्त जीवों का मित्र होता है, क्योंकि वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् की सन्तानों के रूप में देखता है। वह केवल अपने को ईश्वर का पुत्र बताकर तथा अन्यो को यह समझ कर कि उनमें आत्मा नहीं है, मारे जाने नहीं देता। भगवान् का भक्त कभी भी ऐसी विचारधारा का पोषक नहीं होता। *सुहृदः सर्वदेहिनाम्*—असली भक्त समस्त जीवात्माओं का मित्र होता है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण ने अपने को जीवों की समस्त योनियों का पिता कहा है। फलतः श्रीकृष्ण का भक्त सबों का मित्र होता है। यही अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा का अभ्यास तभी सम्भव है जब हम महान् आचार्यों के पदचिह्नों पर चलें। अतः वैष्णव-दर्शन के अनुसार हमें चारों

सम्प्रदायों के महान् आचार्यों का अनुसरण करना होता है।

सम्प्रदाय (शिष्य परम्परा) से बाहर आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने का प्रयत्न करना मात्र हास्यास्पद है। अतः कहा गया है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो आचार्यों की शिष्य परम्परा का अनुसरण करता है, वह वस्तुओं को असली रूप में जान पाता है (*छान्दोग्य उपनिषद् ६.१४.२*) *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—दिव्य ज्ञान समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक गुरु के पास जाये (*मुण्डक उपनिषद् १.२.१२*)। *आध्यात्मिक जीवन में स्मृत्या* शब्द का बहुत महत्त्व है। *स्मृत्या* का अर्थ है श्रीकृष्ण को सदैव याद करना। जीवन को इस प्रकार ढालना चाहिए कि श्रीकृष्ण का चिन्तन किये बिना रहा ही न जा सके। हमें खाते, सोते, बोलते, चलते तथा काम करते हुए श्रीकृष्ण में ही खोये रहना चाहिए। हमारे कृष्णभावनामृत-संघ की संस्तुति है कि हम अपने जीवन को ऐसा बनाएँ कि हम श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकें। हमारी इस्कान समिति के भक्त दिव्य अगरबत्तियाँ बनाते समय श्रीकृष्ण या उनके भक्तों का गुणगान सुनते रहते हैं। शास्त्रों का कथन है—*स्मर्तव्यः सततं विष्णुः*—भगवान् विष्णु का निरन्तर स्मरण करना चाहिए। *विस्मर्तव्यो न जातुचित्*। विष्णु को कभी भूलना नहीं चाहिए। यही आध्यात्मिक जीवन-शैली है। *स्मृत्या*। भगवान् का स्मरण चालू रखा जा सकता है यदि हम उनका निरन्तर श्रवण करते रहें। अतः इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि *मुकुन्दाचरिताग्रसीधुना*। *सीधु* का अर्थ है अमृत। *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* या इसी प्रकार के प्रामाणिक साहित्य से श्रीकृष्ण के विषय में सुनना, कृष्णभावना में वास करना है। कृष्णभावना की एकाग्रता शक्ति उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जो यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करते हैं। हमने अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यह नियम बना रखा है कि भक्त सोलह माला प्रतिदिन जप करे और नियामक सिद्धान्तों का पालन करे। इससे भक्त जीवन में आध्यात्मिक उन्नति में स्थिर रह सकता है।

इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि इन्द्रियों को वश में करके (*यमैः*) मनुष्य उन्नति कर सकता है। इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य *स्वामी* या *गोस्वामी* बन सकता है। अतः जो *स्वामी* या *गोस्वामी* उपाधि लगाते हैं उन्हें इन्द्रियों को वश में रखने के लिए विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए। दरअसल, उन्हें अपनी इन्द्रियों का स्वामी होना ही चाहिए। यह तभी सम्भव है जब वे किसी प्रकार की भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न रखें। यदि किसी कारणवश इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य करना चाहें तो

उन्हें वश में करना चाहिए। यदि हम भौतिक इन्द्रियतृप्ति से बचने का अभ्यास कर सकें तो इन्द्रियाँ स्वतः ही वश में हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात का उल्लेख हुआ है—*अनिन्दया*—हमें दूसरे की धर्म प्रणाली की आलोचना नहीं करनी चाहिए। विभिन्न प्रकार की धर्म प्रणालियाँ विभिन्न गुणों के अन्तर्गत कार्यशील हैं। जो रजो तथा तमो गुणों के अन्तर्गत कार्यशील हैं, वे सत्त्व गुण पद्धति पर चलने वाले धर्म के समान परिपूर्ण नहीं हो सकते। *भगवद्गीता* में सभी वस्तुओं को तीन वर्गों में रखा गया है, अतः धर्मों की भी उसी तरह श्रेणियाँ की गई हैं। जब लोग रजो तथा तमो गुणों के अधीन होंगे तो उनकी धर्म पद्धति भी उसी तरह की होगी। भक्त इन पद्धतियों की आलोचना न करके अपने अनुयायियों को अपने सिद्धान्तों में दृढ़ रहने के लिए प्रोत्साहित करता है, जिससे वे क्रमशः सात्त्विक धर्म के पद को प्राप्त कर सकें। केवल आलोचना करते रहने से भक्त का मन विचलित हो जाता है। इस तरह भक्त को सहनशील होना चाहिए तथा क्षुब्ध न होना सीखना चाहिए।

भक्त की एक अन्य विशेषता है *निरीहया* अर्थात् सादा जीवन। *निरीहा* का अर्थ है 'सरल' अथवा 'विनीत'। भक्त को न तो तड़क-भड़क से रहना चाहिए, न भौतिकतावादी पुरुषों का अनुकरण करना चाहिए। भक्त के लिए 'सादा जीवन उच्च विचार' सन्स्तुत है। उसे उतना ही स्वीकार करना चाहिए जितने से शरीर स्वस्थ रह कर भक्ति कर सके। आवश्यकता से अधिक न तो खाए और न सोए। वह जिन्दा रहने के लिए भोजन करे, न कि भोजन करने के लिए जिन्दा रहे। वह प्रतिदिन छह सात घंटे सोए। ये ही भक्तों के लिए नियम हैं जिनका पालन होना चाहिए। जब तक शरीर है तब तक भौतिक जीवन के तीन प्रकार के ताप सताते रहेंगे। हम उनसे बच नहीं सकते। हमें कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों के पत्र प्राप्त होते हैं कि श्रीकृष्ण-भक्ति करते रहने पर भी वे बीमार क्यों पड़ते हैं? उन्हें इस श्लोक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि उन्हें सहिष्णु बनना होगा (*द्वन्द्व तितिक्षया*)। यह संसार द्वैतपूर्ण है। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि वह बीमार हो गया है, अतः वह कृष्णभावनामृत से भ्रष्ट हो गया है। कृष्णभक्ति बिना किसी भौतिक विरोध के या बाधा के चलती रहती है। अतः श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (२.१४) में यह उपदेश दिया है—*तांस्तितिक्षस्व भारत*—“हे अर्जुन तुम सारी अड़चनों को सहो। तुम कृष्णभक्ति के कार्यों में स्थिर होओ।”

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूर-

गुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।

भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि

स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

हरेः—भगवान् के; मुहुः—निरन्तर; तत्-पर—भगवान् के सन्दर्भ में; कर्ण-पूर—कान का आभूषण; गुण-अभिधानेन—दिव्य गुणों की विवेचना से; विजृम्भमाणया—कृष्ण-चेतना (भक्ति) को बढ़ाने से; भक्त्या—भक्ति से; हि—निश्चय ही; असङ्गः—अदूषित; सत्-असति—भौतिक जगत; अनात्मनि—आत्मनि (आध्यात्मिक ज्ञान) का उल्टा; स्यात्—होना चाहिए; निर्गुणे—अध्यात्म में; ब्रह्मणि—परमेश्वर में; च—तथा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; रतिः—आकर्षण ।

भक्त को चाहिए कि भगवान् के दिव्य गुणों के निरन्तर श्रवण द्वारा भक्ति-अनुशीलन में उत्तरोत्तर वृद्धि करे। ये लीलाएँ भक्तों के कानों के आभूषण सदृश हैं। भक्ति करने तथा भौतिक गुणों को पार करने से मनुष्य सहज ही अध्यात्म में भगवान् में स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक का विशेष उल्लेख श्रवण द्वारा भक्ति की पुष्टि हेतु किया गया है। भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं या इनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनना चाहता। हम सिद्धपुरुषों से भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत सुनकर अपनी भक्ति की प्रखरता को बढ़ा सकते हैं। हम सिद्ध पुरुषों से जितना ही अधिक सुनेंगे भक्ति में उतना ही अग्रसर होंगे और जितना ही हम भक्ति के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे उतना ही भौतिक जगत से विरक्त होते जायेंगे। जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि हम जितना ही भौतिक जगत से विरक्त होंगे उतनी ही भगवान् के प्रति आसक्ति में वृद्धि होगी। अतः जो भक्त भक्ति में सतत प्रगति करना तथा भगवान् के धाम को जाना चाहता है उसे सारे इन्द्रियसुख तथा ऐसे व्यक्तियों की संगति त्याग देनी चाहिए जो धन तथा इन्द्रियतृप्ति के पीछे दीवाने रहते हैं। यही भगवान् चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है (चैतन्य-चरितामृत, मध्य, ११.८)—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य

पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य ।

सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च

हा हन्त हन्त विष-भक्षणतोऽप्यसाधु ॥

इस श्लोक में आये हुए ब्रह्मणि शब्द की टीका निर्विशेषवादियों अथवा भागवत के कथावाचकों ने की है, जो जन्मना जाति-प्रथा के समर्थक हैं। उनके अनुसार ब्रह्मणि का अर्थ निर्गुण (निराकार) ब्रह्म

है। किन्तु भक्त्या तथा गुणाभिधानेन शब्दों के प्रसंग में ऐसा अर्थ नहीं निकाला जा सकता। निर्विशेषवादियों के अनुसार निर्गुण ब्रह्म दिव्य गुणों से सम्पन्न नहीं होता, अतः हमें ब्रह्मणि का अर्थ “भगवान् में” ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि अर्जुन ने भगवद्गीता में स्वीकार किया है श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, अतः जहाँ कहीं भी ब्रह्म शब्द आया है, वह श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त है, निर्गुण ब्रह्म तेज के लिए नहीं। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते (भागवत १.२.११)। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् इन सबको ब्रह्म माना जा सकता है, किन्तु जहाँ भक्ति शब्द का प्रसंग आए या दिव्य गुणों के स्मरण का उल्लेख है, तो यह भगवान् का द्योतक होगा, निर्गुण ब्रह्म का नहीं।

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमा-

नाचार्यवान्ज्ञानविरागरंहसा ।

दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं

पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; रतिः—आसक्ति; ब्रह्मणि—भगवान् में; नैष्ठिकी—स्थिर; पुमान्—मनुष्य; आचार्यवान्—गुरु के प्रति पूर्णतः समर्पित; ज्ञान—ज्ञान; विराग—विरक्ति; रंहसा—के बल से; दहति—जलाता है; अवीर्यम्—नपुंसक; हृदयम्—हृदय के भीतर; जीव-कोशम्—आत्मा का आवरण; पञ्च-आत्मकम्—पाँचों तत्त्व; योनिम्—जन्म का स्रोत; इव—सदृश; उत्थितः—उद्भूत; अग्निः—आग।

गुरु की कृपा से तथा ज्ञान एवं विराग के जागरित होने से भगवान् के प्रति आसक्ति में स्थिर हो जाने पर जीवात्मा जो शरीर के अन्तस्तल में स्थित तथा पाँच तत्त्वों से आच्छादित है अपने भौतिक परिवेश को उसी प्रकार जला देता है, जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ को ही भस्मसात् कर देती है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि हृदय के भीतर जीवात्मा तथा परमात्मा साथ-साथ निवास करते हैं। वेदों का कथन है—हृदि ह्ययमात्मा—आत्मा तथा परमात्मा दोनों हृदय के भीतर वास करते हैं। जीवात्मा का उद्धार तब होता है, जब वह भौतिक हृदय से बाहर निकल आता है अथवा हृदय को स्वच्छ करके आध्यात्मिक बना देता है। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है—योनिम् इवोत्थितोऽग्निः। अग्नि काष्ठ से उत्पन्न हो जाती है, तो यह काष्ठ को ही पूर्ण रूप से जला देती है। इसी प्रकार जब कोई जीवात्मा भगवान् के प्रति आसक्ति बढ़ा देता है, तो समझना चाहिए कि वह अग्नि के तुल्य है। प्रज्वलित अग्नि ताप तथा प्रकाश से दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार जब हृदय के भीतर

जीवात्मा पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान से प्रकाशित एवं संसार से विरक्त हो जाता है, तो वह अपने पंचतत्त्वों के आवरण को जला देता है और पाँच प्रकार की आसक्तियों यथा अविद्या, अहंकार, आसक्ति, ईर्ष्या तथा भौतिक चेतना में तल्लीनता से मुक्त हो जाता है। अतः इस श्लोक में *पञ्चात्मकम्* या तो पाँच तत्त्वों के लिए या कि भौतिक कल्मष के पाँच आवरणों के लिए आया है। जब ये सब ज्ञान तथा विराग की अग्नि से भस्म हो जाते हैं, तो मनुष्य भगवान् की भक्ति में स्थिर होता है। जब तक मनुष्य प्रामाणिक गुरु की शरण में नहीं जाता और उसके उपदेश के अनुसार श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति नहीं बढ़ाता तब तक जीवात्मा के हृदय से पाँचों आवरण हटाये नहीं जा सकते। जीवात्मा हृदय में केन्द्रित है और उसको हृदय से निकालने का अर्थ है उसका उद्धार, इसकी यह विधि है। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए और उनके आदेशों से अपना आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ाना चाहिए, इस भौतिक संसार से विरक्त होना चाहिए और इस प्रकार मुक्त हो जाना चाहिए। अतः सिद्ध भक्त भौतिक शरीर के भीतर नहीं रहता; वह तो अपने आध्यात्मिक शरीर के भीतर वैसे ही रहता है जैसे कि जटा के भीतर रहते हुए भी नारियल (गरी) जटा से भिन्न रहता है। अतः शुद्ध भक्त का शरीर चिन्मय शरीर (आध्यात्मिक शरीर) कहलाता है। दूसरे शब्दों में, भक्त का शरीर भौतिक कार्यकलापों से सम्बन्धित नहीं रहता; फलस्वरूप भक्त सदैव मुक्त रहता है (ब्रह्मभूयाय कल्पते) जैसाकि भगवद्गीता (१४.२६) में पुष्टि की गई है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी ने इस प्रकार की है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“जो मन, वचन तथा कर्म से भगवान् की सेवा में पूर्णतः लगा रहता है, वह चाहे जिस भी स्थिति में रहे, अपने शरीर के भीतर होते हुए भी मुक्त रहता है।”

दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो

नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।

परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्

स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

दग्ध-आशयः—समस्त इच्छाओं का जल जाना; मुक्त—मुक्त; समस्त—सभी; तत्-गुणः—द्रव्य के सम्बन्ध में गुण; न—नहीं; एव—निश्चय ही; आत्मनः—आत्मा या परमात्मा; बहिः—बाह्य; अन्तः—आन्तरिक; विचष्टे—कार्यशील; पर-आत्मनोः—

परमात्मा का; यत्—जो; व्यवधानम्—अन्तर; पुरस्तात्—मानो प्रारम्भ में हो; स्वप्ने—स्वप्न में; यथा—जिस प्रकार; पुरुषः—व्यक्ति; तत्—वह; विनाशे—समाप्त होते हुए।

जब मनुष्य भौतिक समस्त इच्छाओं से रहित और भौतिक गुणों से मुक्त हो जाता है, तो वह अन्तः तथा बाह्य रूप से किये गये कार्यों में अन्तर नहीं देखता है। उस समय आत्म-साक्षात्कार के पूर्व विद्यमान आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर विनष्ट हो जाता है। स्वप्न टूटने पर स्वप्न तथा स्वप्न देखने वाले के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता।

तात्पर्य : जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*) मनुष्य को समस्त इच्छाओं से रहित होना चाहिए। समस्त इच्छाओं से रहित हो जाने पर चिन्तन या सकाम कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में यह समझना चाहिए कि वह भौतिक देह से मुक्त है। इसका उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है कि सूखी गरी नारियल के जटा से पृथक् हो जाती है। यह मुक्ति की अवस्था है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१०.६) में कहा गया है *मुक्ति* का अर्थ है *स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहना। जब तक देहात्मबुद्धि रहती है तब तक सभी भौतिक इच्छाएँ पीछा नहीं छोड़तीं, किन्तु जब मनुष्य यह सोच लेता है कि वह श्रीकृष्ण का शाश्वत दास है, तो उसकी इच्छाएँ भौतिक नहीं रहती हैं। भक्त इसी चेतना से कार्य करता है। दूसरे शब्दों में, जब शरीर से सम्बन्धित भौतिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तो मनुष्य वास्तव में मुक्त हो जाता है।

मुक्त हो जाने पर मनुष्य अपनी व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं करता। फिर आगे वह जो कुछ भी करता है, वह अनासक्त होता है। बद्ध अवस्था में दो प्रकार के कर्म होते हैं। मनुष्य शरीर के लिए कार्य करता है, किन्तु साथ-ही वह मुक्त होने के लिए भी कार्य करता है। समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर भक्त शरीर तथा आत्मा के लिए कर्म की द्वैतता से परे हो जाता है। तब देहात्मबुद्धि समाप्त हो जाती है। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

जब मनुष्य भगवान् की सेवा में पूर्ण रूप से संलग्न होता है, तो वह जीवन की किसी भी अवस्था में मुक्त रहता है। वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है। ऐसी मुक्त-अवस्था में इन्द्रियतृप्ति के लिए किये गये कार्यों तथा मुक्ति के लिए किये गये कार्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति की

इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उस पर शोक या मोह के फलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कर्मियों तथा ज्ञानियों द्वारा किये गये कर्मों से शोक तथा मोह उत्पन्न होता है, किन्तु स्वरूपसिद्ध पुरुष, जो केवल भगवान् के लिए ही कर्म करता है, इन्हें अनुभव नहीं करता। यह एकात्म की दशा है अथवा भगवान् के अस्तित्व में तदाकार होना है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव अपनी पृथक् सत्ता होते हुए भी पृथक् स्वार्थ नहीं रखता। वह भगवान् की सेवा में पूरी तरह लग जाता है, उसे अपनी इन्द्रियतृप्ति से कोई वास्ता नहीं रह जाता, अतः वह केवल भगवान् को देखता है, अपने आपको नहीं। उसके स्वार्थों का पूर्ण अन्त हो जाता है। नींद टूटने पर स्वप्न समाप्त हो जाता है, किन्तु स्वप्न में मनुष्य अपने को राजा मानकर शाही शान, सैनिक आदि सब कुछ देख सकता है। स्वप्न समाप्त होने पर वह अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष जानता है कि वह परमेश्वर का अंशरूप है और उन्हीं के इच्छानुसार सारे कार्य करता रहता है। इस तरह वह उनके तथा अपने बीच कोई अन्तर नहीं देखता, यद्यपि दोनों की सत्ताएँ पृथक्-पृथक् रहती हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—परमात्मा तथा आत्मा के एकाकार का यह पूर्ण बोध है।

आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि ।

सत्याशय उपाधौ वै पुमान्यश्यति नान्यदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—आत्मा; इन्द्रिय-अर्थम्—इन्द्रियतृप्ति हेतु; च—तथा; परम्—दिव्य; यत्—जो; उभयोः—दोनों; अपि—निश्चय ही; सति—स्थित होकर; आशये—भौतिक इच्छाएँ; उपाधौ—उपाधि या नाम; वै—निश्चय ही; पुमान्—मनुष्य; पश्यति—देखता है; न अन्यदा—अन्यथा नहीं।

जब आत्मा इन्द्रियतृप्ति के हेतु रहता है, तो वह नाना प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसको उपाधियाँ दी जाती हैं। किन्तु जब मनुष्य दिव्य स्थिति में रहता है, तो वह भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने के अतिरिक्त और किसी कार्य में रुचि नहीं दिखाता।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं से आच्छादित होने के कारण आत्मा को विशेष प्रकार की देह-उपाधियों से ढका हुआ माना जाता है। इस प्रकार आत्मा अपने को पशु, मनुष्य, देवता, पक्षी, इत्यादि मानता है। अहंकार से जनित झूठी पहचान से कई प्रकार से प्रभावित होकर और मोहमयी भौतिक इच्छाओं से आच्छादित होकर वह पदार्थ तथा आत्मा में भेद करने लगता है। जब मनुष्य इस प्रकार के भेदभाव से रहित होता है, तो पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। तब तो आत्मा ही प्रमुख

कारण बन जाता है। जब तक मनुष्य भौतिक इच्छाओं से ढका हुआ रहता है, वह अपने को भोक्ता या स्वामी मानता है। इस प्रकार वह इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और भौतिक पीड़ा, सुख तथा दुख से प्रभावित होता है। किन्तु जब मनुष्य जीवन के इस बोध से मुक्त हो जाता है, तो फिर वह उपाधियों से प्रभावित नहीं होता और वह प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर के परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक मानता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.२५५) में इसकी व्याख्या की है—

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जतः ।

निर्वन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

मुक्त पुरुष को न तो इन्द्रियतृप्ति से, न ही अन्य किसी भौतिक पदार्थ से लगाव होता है। वह समझ जाता है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से सम्बन्धित है और प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाना चाहिए। फलतः वह किसी भी वस्तु का त्याग नहीं करता। उसके लिए किसी भी वस्तु को त्यागने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि परमहंस जानता है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाए। मूलतः प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है, कुछ भी भौतिक नहीं है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.२७४) में भी कहा गया है कि *महाभागवत* में कोई भौतिक दृष्टि नहीं होती—

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति ।

सर्वत्र हय निज इष्ट-देव-स्फूर्ति ॥

यद्यपि वह वृक्षों, पर्वतों तथा अन्य जीवों को यहाँ-वहाँ देखता है, किन्तु वह उन्हें परमेश्वर की सृष्टि रूप में देखता है, वह केवल स्रष्टा को देखता है, सृजित को नहीं। दूसरे शब्दों में, सृजित तथा स्रष्टा में कोई अन्तर नहीं दिखता। वह प्रत्येक वस्तु में भगवान् के दर्शन करता है। वह प्रत्येक वस्तु में श्रीकृष्ण को और श्रीकृष्ण में प्रत्येक वस्तु को पाता है। यही एकाकार है।

निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः ।

आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

निमित्ते—कारणों के फलस्वरूप; सति—होते हुए; सर्वत्र—सभी जगह; जल-आदौ अपि—जल तथा अन्य प्रतिबिम्बित करने वाले माध्यम; पूरुषः—पुरुष; आत्मनः—अपने; च—तथा; परस्य अपि—दूसरे का भी; भिदाम्—अन्तर; पश्यति—देखता है; न अन्यदा—अन्य कोई कारण नहीं।

विभिन्न निमित्तों (कारणों) के फलस्वरूप ही मनुष्य अपने तथा दूसरों में अन्तर देखता है, जिस प्रकार के जल, तेल या दर्पण में एक ही पदार्थ के प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखते हैं।

तात्पर्य : आत्मा एक है और वह है भगवान्। वह स्वांश तथा विभिन्नांश में प्रकट होता है। जीव विभिन्नांश है। भगवान् के विभिन्न अवतार स्वांश हैं। इस प्रकार परमेश्वर की विभिन्न शक्तियाँ हैं और इन शक्तियों के विभिन्न विस्तार (अंश) हैं। इस प्रकार विभिन्न कारणों से एक ही तत्त्व भगवान् के विभिन्न विस्तार हैं। यही असली ज्ञान है, किन्तु जब जीव उपाधि से आवृत रहता है, तो उसे वैसे ही अन्तर जान पड़ते हैं जैसे जल, तेल, या दर्पण में देखने पर अपने ही प्रतिबिम्बों में अन्तर जान पड़ता है। जब कोई वस्तु जल से प्रतिबिम्बित होती है, तो वह चल प्रतीत होती है, किन्तु जब बर्फ से प्रतिबिम्बित होती है, तो स्थिर लगती है। तेल से प्रतिबिम्बित होने पर वही धुँधली जान पड़ती है। वस्तु एक है, किन्तु विभिन्न अवस्थाओं में वह भिन्न प्रतीत होती है। यदि पात्रता कारण को निकाल लिया जाय तो सारी वस्तुएँ एक ही प्रतीत होती हैं। दूसरे शब्दों में, जब भक्तियोग के अभ्यास से मनुष्य परमहंस अथवा सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, तो उसे सर्वत्र श्रीकृष्ण के ही दर्शन होते हैं। उसके लिए मानो अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं।

निष्कर्ष के रूप हम कह सकते हैं कि विभिन्न कारणों से जीवात्मा पशु, मनुष्य, देवता, वृक्ष जैसे विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। अतः भगवद्गीता (५.१८) में व्याख्या की गई है कि जो वास्तविक आत्मा के दर्शन कर लेता है उसे विद्वान्, ब्राह्मण तथा कुत्ते, हाथी या गाय में कोई अन्तर नहीं दिखता। पण्डिताः समदर्शिनः। जो वास्तव में पण्डित है, वह केवल जीवात्मा को देखता है उसके बाह्य-आवरण को नहीं। अतः जो अन्तर है, वह विभिन्न कर्मों का फल है और जब हम कर्म करना बन्द करके भक्ति के कार्यों में लग जाते हैं, तो हम यह समझ पाते हैं कि हम अन्यो से भिन्न नहीं हैं, उनका रूप चाहे जो भी हो। ऐसा केवल कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही सम्भव है। इस आन्दोलन में विश्व के सभी भागों की सभी जातियों के लोग भाग ले रहे हैं और वे अपने को भगवान् का दास समझने के कारण काले-गोरे या पीले-लाल में

कोई भेदभाव नहीं देखते। अतः कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ही एकमात्र साधन है, जिससे जीवात्माएँ समस्त उपाधियों से मुक्त हो सकती हैं।

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।

चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव हृदात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; विषय—विषय वस्तु; आकृष्टः—आकृष्ट होकर; आक्षिप्तम्—विचलित; ध्यायताम्—सदैव सोचते हुए; मनः—मन; चेतनाम्—चेतना; हरते—खो जाती है; बुद्धेः—बुद्धि की; स्तम्बः—बड़े-बड़े तिनके, कुशादि; तोयम्—जल; इव—सदृश; हृदात्—झील (जलाशय) से।

जब मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ सुख-भोग के हेतु विषय-वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं, तो मन विचलित हो जाता है। परिणाम स्वरूप लगातार विषय-वस्तुओं का चिन्तन करने से मनुष्य की असली कृष्णचेतना वैसे ही खो जाती है, जैसे कि जलाशय के किनारे उगे हुए बड़ी बड़ी कुश जैसी घास के द्वारा चूसे जाने के कारण जलाशय का जल।

तात्पर्य : इस श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से बताया गया है कि हमारी मूल कृष्णचेतना किस प्रकार दूषित हो जाती है और हम किस प्रकार परमेश्वर से अपने सम्बन्ध को उत्तरोत्तर भूलते जाते हैं। पिछले श्लोक में बताया गया है कि हमें निरन्तर भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए जिससे भक्ति की प्रज्वलित अग्नि समस्त भौतिक इच्छाओं को भस्म कर दे और हम जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो सकें। यह वह अप्रत्यक्ष विधि भी है, जिससे हम परमेश्वर के चरणारविन्द में अपनी अटूट श्रद्धा बनाये रख सकते हैं। जब मन को निरन्तर इन्द्रियतृप्ति के बारे में सोचने के लिए छोड़ दिया जाता है, तो वह हमारे भौतिक बन्धन का कारण बन जाता है। यदि हमारा मन इन्द्रियतृप्ति के विषयों से ही पूरित रहे तो हम कृष्णभक्ति करने की चाह रखकर भी सतत अभ्यास के कारण इन्द्रियतृप्ति के विषय को नहीं भूल सकते। यदि कोई संन्यास आश्रम ग्रहण कर ले, किन्तु मन को वश में न कर पाए तो वह सदैव इन्द्रियतृप्ति—यथा परिवार, समाज, कीमती घर इत्यादि—के बारे में सोचता रहेगा। भले ही वह हिमालय में या जंगल में क्यों न चला जाय उसका मन इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में रमा रहेगा। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य की बुद्धि प्रभावित होती रहेगी जिससे कृष्णचेतना (भक्ति) के प्रति उसकी मौलिक रुचि समाप्त हो जाएगी।

यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त सटीक है। यदि किसी विशाल जलाशय के चारों ओर ऊंची-

ऊंची कुश घास उगी हो तो उसका जल सूख जाएगा। इसी प्रकार जब भौतिक इच्छाएं बढ़ जाती हैं, तो चेतना का स्वच्छ जल सूख जाता है। अतः कुश को पहले से ही काट देना या समूल नष्ट कर देना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि यदि धान के खेत में खर-पतवारों को उगने दिया जाए तो वे उर्वरक तथा जल का उपयोग कर लेंगे और धान के पौधे सूख जाएंगे। इन्द्रियभोग की इच्छा ही इस जगत में हमारे पतन का कारण है और हम तीन प्रकार के तापों एवं जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के शिकार होते रहते हैं। किन्तु यदि हम अपनी इच्छाओं को भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति की ओर मोड़ दें तो हमारी इच्छाएँ पवित्र हो जाती हैं। हम इच्छाओं को मार नहीं सकते। हमें उन्हें विभिन्न उपाधियों से शुद्ध करना है। यदि हम अपने को निरन्तर किसी विशेष राष्ट्र, समाज या परिवार के सदस्य के रूप में मान कर उन्हीं का चिन्तन करते रहें तो हम जन्म-मरण के बद्धजीवन में दृढ़तापूर्वक उलझ जाते हैं। किन्तु यदि हमारी इच्छाएँ भगवान् की सेवा में लग जाएँ तो वे पवित्र हो जाती हैं और हम भौतिक कल्मष से तुरन्त मुक्त हो जाते हैं।

भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।

तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

भ्रश्यति—विनष्ट हो जाती है; अनुस्मृतिः—निरन्तर चिन्तन; चित्तम्—चेतना; ज्ञान-भ्रंशः—वास्तविक ज्ञान से विरहित; स्मृति-क्षये—स्मृति के विनाश से; तत्-रोधम्—उस विधि का अवरुद्ध होना; कवयः—बड़े-बड़े पंडितों ने; प्राहुः—विचार व्यक्त किया है; आत्म—आत्मा का; अपह्नवम्—विनाश; आत्मनः—आत्मा का।

जब मनुष्य अपनी मूल चेतना से इधर-उधर हटता है, तो वह न तो अपनी पूर्वस्थिति को स्मरण रख पाता है और न वर्तमान स्थिति को पहचान पाता है। स्मरण-शक्ति के नष्ट हो जाने पर जितना भी ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह एक झूठी आधार-शिला पर टिका रहता है। जब ऐसी घटना घटती है, तो पंडित जन कहते हैं कि आत्मा का विनाश हो गया।

तात्पर्य : जीवात्मा या आत्मा नित्य एवं शाश्वत है। इसका विनाश नहीं हो सकता, किन्तु जब वास्तविक ज्ञान काम नहीं करता तो पंडितजन कहते हैं कि इसका विनाश हो चुका है। पशुओं तथा मनुष्यों में यही अन्तर है। अल्पज्ञ दार्शनिकों के अनुसार पशुओं में आत्मा नहीं होती, किन्तु वास्तविकता यह है कि पशुओं में आत्मा होती है। फिर भी पशुओं की निरी अज्ञानता के कारण ऐसा लगता है कि उनकी आत्माएँ विनष्ट हो चुकी हैं। बिना आत्मा के शरीर हिल नहीं सकता। सजीव एवं

निर्जीव शरीर का यही अन्तर है। जब आत्मा शरीर से बाहर निकल जाता है, तो शरीर मृत कहलाता है। आत्मा को तभी विनष्ट कहा जाता है जब समुचित ज्ञान प्रदर्शित नहीं हो पाता। हमारी मूल चेतना कृष्णचेतना है क्योंकि हम कृष्ण के अंश हैं। जब यह चेतना दिग्भ्रमित हो जाती है और मनुष्य भौतिक वातावरण में आ गिरता है, जिससे मूल चेतना दूषित होती है, तो वह सोचने लगता है कि यह भौतिक तत्त्वों का फल है। इस प्रकार वह भगवान् के अंश रूप में अपनी स्थिति को उसी प्रकार भूल जाता है, जिस प्रकार कि सोते समय मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। इस प्रकार मूल चेतना के कार्यकलापों के अवरुद्ध होने से विनष्ट आत्मा के सारे कार्यकलाप मिथ्या आधार पर सम्पन्न होते हैं। आज के समय में, मानवीय सभ्यता देहात्मबुद्धि के छद्म-स्तर पर कार्य कर रही है, अतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग के लोगों ने अपनी आत्माएँ खो दी हैं और इस प्रकार वे पशुतुल्य हैं।

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः ।

यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतः—इसके बाद; परतरः—बढ़कर; लोके—इस संसार में; पुंसः—जीवात्माओं का; स्व-अर्थ—लाभ; व्यतिक्रमः—रुकावट; यत्-अधि—इसके आगे; अन्यस्य—दूसरों का; प्रेयस्त्वम्—अधिक रुचिकर; आत्मनः—अपने लिए; स्व—अपना; व्यतिक्रमात्—रुकावट से।

आत्म-साक्षात्कार की अपेक्षा अन्य विषयों को अधिक रुचिकर सोचना—मनुष्य के अपने हित के लिए इससे बड़ी बाधा कोई नहीं होती है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के निमित्त है। “आत्म” का अर्थ है परमात्मा तथा जीव अर्थात् भगवान् तथा जीवात्मा। किन्तु जब मनुष्य अपने शरीर तथा शारीरिक इन्द्रियतृप्ति में अधिक रुचि रखने लगता है, तो वह आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अपने लिए अवरोध उत्पन्न कर लेता है। माया के प्रभाव से वह इन्द्रियतृप्ति में अधिक रस लेता है, जो इस संसार में आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक व्यक्तियों के लिए वर्जित है। इन्द्रियतृप्ति में रस न लेकर मनुष्य को परमात्मा की इन्द्रियों को तुष्ट करने में अपने कार्यकलापों को मोड़ लेना चाहिए। इस नियम के विपरीत जो भी किया जाएगा, वह निश्चित ही उसके हित के विरुद्ध होगा।

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।

भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—धन; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रियों की तृप्ति के लिए; अभिध्यानम्—निरन्तर ध्यान करने से; सर्व-अर्थ—चार प्रकार की उपलब्धियाँ, पुरुषार्थ; अपह्वः—विनाशकारी; नृणाम्—मानव समाज की; भ्रंशितः—से रहित; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञानात्—भक्ति से; येन—इससे; आविशति—प्रवेश करता है; मुख्यताम्—जड़ जीवन।

धन कमाने तथा इन्द्रितृप्ति के लिए उसके उपयोग के विषय में निरन्तर सोचते रहने से मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति का पुरुषार्थ विनष्ट होता है। जब कोई ज्ञान तथा भक्ति से शून्य हो जाता है, वह वृक्षों तथा पर्वतों की सी जड़ योनियों में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : ज्ञान का अर्थ है अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझना और विज्ञान का अर्थ है जीवन में उस ज्ञान को व्यवहार में लाना। मनुष्य जीवन प्राप्त करके व्यक्ति को ज्ञान तथा विज्ञान की स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए, किन्तु इस सुअवसर के होते हुए भी यदि कोई गुरु तथा शास्त्रों की सहायता से ज्ञान तथा विज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता अर्थात् वह इस सुअवसर का उपयोग नहीं करता है, तो अगले जन्म में उसे जड़ योनि प्राप्त होना निश्चित है। जड़ योनि के अन्तर्गत पर्वत, वृक्ष, पौधे इत्यादि आते हैं। जीवन की यह अवस्था पुण्यताम् या मुख्यताम् कहलाती है, जिसका अर्थ है सभी कार्यकलाप शून्य हो जाना। ऐसे दार्शनिक, जो समस्त कार्यकलापों को समाप्त करने के पक्षपाती हैं, शून्यवादी कहलाते हैं। सहज रूप में हमारे सारे कार्यकलाप उत्तरोत्तर भक्ति की ओर उन्मुख होने चाहिए। किन्तु कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो कर्मों को शुद्ध न करके प्रत्येक वस्तु को शून्य या समस्त कार्यकलापों से रहित कर देना चाहते हैं। क्रियाशीलता का ऐसा अभाव वृक्षों तथा पर्वतों में पाया जाता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त दण्ड जैसा है। यदि हम आत्म-साक्षात्कार के जीवन-लक्ष्य को उचित ढंग से प्राप्त नहीं कर सकते तो प्रकृति हमें वृक्ष तथा पर्वत के रूप में जड़ बनाकर दंड देगी। इसलिए इन्द्रियतृप्ति के हेतु किये गये कर्मों की यहाँ भर्त्सना की गई है। जो निरन्तर धन-अर्जन तथा इन्द्रियतृप्ति के विषय में ही सोचता रहता है, वह ऐसे पथ पर अग्रसर होता है जो आत्मघाती है। वस्तुतः समूचा मानव-समाज इसी पथ का अनुसरण कर रहा है कि भीख माँगके, चोरी करके अथवा उधार लेने से, चाहे जिस प्रकार से धन आए, लोग धन कमाने तथा उसका उपभोग इन्द्रियतृप्ति करने जुटे हुए हैं। ऐसी सभ्यता आत्म-साक्षात्कार के पथ में सबसे बड़ी बाधक है।

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

न—मत; कुर्यात्—करे; कर्हिचित्—कभी भी; सङ्गम्—संगति, साथ; तमः—अज्ञान; तीव्रम्—तेज गति से; तितीरिषुः—वे पुरुष जो अज्ञान को पार करने के इच्छुक हैं; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इन्द्रियतृप्ति; मोक्षाणाम्—मोक्ष का; यत्—जो; अत्यन्त—अत्यधिक; विघातकम्—बाधक या रुकावट ।

जो अज्ञान के सागर को पार करने की प्रबल इच्छा रखते हैं, उन्हें कभी भी तमोगुण के साथ नहीं जुड़ना चाहिए, क्योंकि सुखवादी कार्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के मार्ग में अत्यन्त बाधक हैं ।

तात्पर्य : जीवन के चार नियम हैं, जो मनुष्य को धर्म के अनुसार रहने, समाज में अपनी स्थिति के अनुसार धन अर्जित करने, नियम के अनुसार विषय वस्तुओं को भोगने तथा इस भौतिक आसक्ति से मोक्ष के पथ में अग्रसर होने की अनुमति देते हैं। जब तक यह शरीर है इन समस्त स्वार्थों (पुरुषार्थों) से पूरी तरह अलग रह पाना असम्भव है। किन्तु यह भी कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करे और इसी के लिए धन कमाए तथा सारे धार्मिक नियमों की बलि दे दे। आज के समय में, मानव-समाज को धर्म की तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह तो धर्महीन आर्थिक विकास में परम दत्तचित्त है। उदाहरणार्थ, कसाईघरों में बधिकों को आसानी से पैसा मिल जाता है, किन्तु ऐसा धंधा धार्मिक नियमों पर आधारित नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति तथा कामवासना पूर्ति के लिए अनेक वेश्यालय तथा नाइट क्लब हैं। संभोग की छूट गृहस्थ जीवन में तो है, किन्तु वेश्यागमन वर्जित है, क्योंकि हमारे सारे कार्यकलापों का लक्ष्य इस संसार के बंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना है। इसी प्रकार, भले ही सरकार मदिरालयों को खोलने का लाइसेंस दे दे, किन्तु इसका अभिप्राय यह तो नहीं है कि निर्बाध रूप से मदिरालय खुलते जाएं और अवैध शराब का धंधा हो। लाइसेंस देने का अभिप्राय प्रतिबन्ध लगाना है। किसी को चीनी, आटे या दूध का लाइसेंस नहीं लेना होता, क्योंकि इन वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यह सलाह दी जाती है कि वह इस प्रकार कार्य करे कि आध्यात्मिक जीवन तथा मोक्ष की नियमित प्रगति की प्रक्रिया बाधित न हो। अतः इन्द्रियतृप्ति की वैदिक विधि इस प्रकार नियोजित की जाती है कि आर्थिक विकास होता रहे, इन्द्रियतृप्ति भी हो तथा उसके साथ ही अन्त में मोक्ष प्राप्त हो। वैदिक सभ्यता हमें शास्त्रों के रूप में सारा ज्ञान प्रदान करती है और यदि हम शास्त्रों तथा गुरु के निर्देशन में नियमित जीवन बिताएँ

तो हमारी सारी भौतिक इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी और साथ ही हम मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।

त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; मोक्षः—मोक्ष; एव—निश्चय ही; अर्थ—के हेतु; आत्यन्तिकतया—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण; इष्यते—ग्रहण करे; त्रै-वर्ग्यः—अन्य तीन, अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम; अर्थः—हित, पुरुषार्थ; यतः—जिससे; नित्यम्—नियमित रूप से; कृत-अन्त—मृत्यु; भय—डर; संयुतः—संलग्न।

चारों पुरुषार्थ अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—में से मोक्ष को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अन्य तीन तो प्रकृति के कठोर नियम अर्थात् काल (मृत्यु) द्वारा नाशवान् हैं।

तात्पर्य : मोक्ष को अन्य तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा अधिक गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि सूत गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में उपदेश दिया है कि धर्म आर्थिक विकास की सफलता पर अवलम्बित नहीं है। चूँकि हम इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, अतः हम मन्दिर या गिरजाघर में ईश्वर के पास किसी न किसी आर्थिक कारण से जाते हैं। किन्तु आर्थिक विकास का अर्थ इन्द्रियतृप्ति नहीं है। हमें चाहिए कि इन सबमें ऐसा समंजन करें कि हमें मोक्ष प्राप्त हो सके। इसीलिए इस श्लोक में मोक्ष पर बल दिया गया है। अन्य तीन पुरुषार्थ भौतिक होने के कारण नश्वर हैं। इस जीवन में बैंक में किसी भी द्वारा प्रचुर धन संचित कर लेने तथा अनेक वस्तुओं का स्वामी बन जाने पर भी सारी वस्तुएँ मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाएँगी। भगवद्गीता में कहा गया है कि मृत्यु तो भगवान् है, जो भौतिकतावादी मनुष्य द्वारा अर्जित सारी वस्तुएँ अपने साथ लेते जाते हैं। मूर्खतावश हम इसकी ओर ध्यान नहीं देते। मूर्खतावश न तो हम मृत्यु से डरते हैं, न ही इसका विचार करते हैं कि मृत्यु अपने साथ धर्म, अर्थ तथा काम के द्वारा अर्जित प्रत्येक वस्तु को लेती जाएगी। धर्म के द्वारा हमें स्वर्ग की भी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चंगुल से भी हमें छुटकारा मिल गया। तात्पर्य यह कि हम त्रैवर्ग्य—धर्म, अर्थ तथा काम—के अपने-अपने स्वार्थों की बलि तो कर सकते हैं, किन्तु मोक्ष की नहीं। मोक्ष के सम्बन्ध में भगवद्गीता (४.९) में कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*। मोक्ष का अर्थ होता है कि इस शरीर को त्यागने के बाद मनुष्य को दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना होता। निर्विशेषवादियों के लिए मोक्ष का अर्थ है निर्गुण ब्रह्म

से तादात्म्य। किन्तु वास्तव में यह मोक्ष नहीं है, क्योंकि मनुष्य को उस निर्गुण पद से पुनः इस भौतिक संसार में नीचे आना होता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण खोजे और उनकी भक्ति में लग जाए। यही असली मोक्ष है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि हमें पुण्य कर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति पर बल नहीं देना चाहिए। हमें तो भगवान् विष्णु के दिव्य धाम पहुँचने की चिन्ता करनी चाहिए। जिनमें से गोलोक वृन्दावन सबसे ऊपर है और वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं। अतः मोक्ष के इच्छुक लोगों के लिए यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सबसे बड़ा उपहार है।

परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु ।

न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

परे—जीवन की उच्चतर स्थिति में; अवरे—जीवन की निम्नतर अवस्था में; च—तथा; ये—ये सब; भावाः—विचार; गुण—भौतिक गुण; व्यतिकरात्—अन्योन्य क्रिया से; अनु—पीछे-पीछे चलना; न—कभी नहीं; तेषाम्—उनका; विद्यते—विद्यमान है; क्षेमम्—कुशल; ईश—परमेश्वर; विध्वंसित—विनष्ट; आशिषाम्—आशीर्वादों का।

हम उच्चतर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को जीवन की निम्नतर अवस्थाओं से अलग करते हुए वरदानस्वरूप ग्रहण करते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के भेदभाव भौतिक प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया के प्रसंग में ही विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः जीवन की इन अवस्थाओं का कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि ये परम नियन्ता द्वारा विनष्ट कर दी जाएंगी।

तात्पर्य : हम इस संसार में जीवन के उच्चतर रूप को आशीर्वाद (वरदान) के रूप में ग्रहण करते हैं और निम्नतर रूप को अभिशाप। उच्चतर अथवा निम्नतर का यह अन्तर तभी तक रहता है जब तक विभिन्न भौतिक गुण परस्पर क्रिया करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम अपने अच्छे कर्मों से उच्चतर लोकों को या उच्चतर जीवन स्तर (यथा उत्तम शिक्षा, सुन्दर शरीर, इत्यादि) को प्राप्त होते हैं। ये सब पुण्य कर्मों के प्रतिफल हैं। इसी तरह अपवित्र कार्यों से हम अशिक्षित रह जाते हैं, कुरूप शरीर पाते हैं, गरीब बने रहते हैं, इत्यादि। किन्तु जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ सतो, रजो तथा तमो गुणों की पारस्परिक क्रिया द्वारा प्रकृति के नियमों के अधीन हैं। ये सारे गुण इस समग्र विश्व के विलय के समय कार्य करना बन्द कर देते हैं। अतः भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

भले ही हम अपने आपको विज्ञान की उन्नति के बल पर या जीवन के धार्मिक नियमों—त्याग तथा कर्म—से उच्चतर लोक तक उठा लें, किन्तु प्रलय के समय ये सारे लोक तथा उनके प्राणी विनष्ट हो जाएंगे। इस श्लोक में *ईशविध्वंसिताशिषाम्* सूचित करता है कि ये सारे आशीर्वाद परम नियन्ता द्वारा ध्वस्त कर दिये जाएँगे। उस समय कोई हमारी रक्षा नहीं करेगा। चाहे इस लोक में हों, या अन्य लोक में, हमारे शरीर विनष्ट हो जाएँगे और हमें महाविष्णु के शरीर के भीतर लाखों वर्षों तक अचेत अवस्था में रहना होगा और जब सृष्टि पुनः प्रकट होगी तो उसमें हमें विभिन्न योनियों में जन्म लेकर अपने कार्य प्रारम्भ करने होंगे। अतः मात्र उच्चतर लोक तक उठ जाने से ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। हमें इस दृश्य जगत से बाहर निकलने, आत्मजगत में जाने और भगवान् की शरण ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। यही हमारी सर्वोच्च उपलब्धि है। हमें किसी भी उच्च या निम्न भौतिक वस्तु के प्रति आकृष्ट न होकर उन्हें समान स्तर पर देखना चाहिए। हमारा वास्तविक कार्य जीवन-उद्देश्य की खोज और भगवान् की भक्ति करना होना चाहिए। इस प्रकार हम ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण अपने आध्यात्मिक कार्यों में सतत आशीर्वाद पाते रहेंगे।

नियमित मानवीय सभ्यता से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्रगति होती है। मानव समाज में धर्म होना ही चाहिए। बिना धर्म के मानव समाज पशुओं का समाज है। आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति को धर्म पर आधारित होना चाहिए। जब धर्म, अर्थ तथा काम समंजित हो जाते हैं, तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से मुक्ति निश्चित है। किन्तु इस कलिकाल में धर्म तथा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। लोगों की रुचि केवल आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की ओर है। फलतः सारे विश्व में पर्याप्त आर्थिक उन्नति के बावजूद मानव-समाज के आचार-विचार पशुतुल्य हैं। जब सब कुछ नितान्त पशुतुल्य हो जाता है, तो प्रलय होता है। इस प्रलय को *ईश विध्वंसिताशिषाम्* के रूप में ग्रहण करना चाहिए। भगवान् द्वारा प्रदत्त आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति का आशीर्वाद अन्त में विनष्ट हो जाता है। इस कलियुग के अन्त में भगवान् कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होंगे और उनका एकमात्र कार्य होगा ब्रह्माण्ड के समस्त मनुष्यों का संहार। इस नरसंहार के बाद पुनः स्वर्णिम युग आएगा। अतः हमें जान लेना होगा कि हमारे सारे भौतिक कार्यकलाप बच्चों की खिलवाड़ सदृश हैं। बच्चे समुद्रतट पर खेल

करते हैं, पिता तट पर बैठा-बैठा बच्चों के द्वारा महलों का दीवारों का बनना आदि देखता रह सकता है, किन्तु अन्त में पिता के कहने पर बच्चों को सब कुछ छोड़कर घर वापस आना पड़ता है। तब सब कुछ नष्ट हो जाता है। जो लोग आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के बच्चों जैसे खिलवाड़ में लगे रहते हैं, कभी-कभी भगवान् उन पर विशेष अनुग्रह करके उनके सारे निर्माण कार्यों को विनष्ट कर देते हैं।

भगवान् ने कहा है— *यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः*। भगवान् ने युधिष्ठिर महाराज से कहा कि जब वे अपने भक्त पर विशेष अनुकम्पा करते हैं, तो उसका सारा धन-वैभव हर लेते हैं। अतः सामान्यतः यह देखा जाता है कि वैष्णव अधिक धनवान नहीं होते। जब कोई वैष्णव या भक्त धनवान होने के साथ-साथ परमेश्वर की सेवा करने की इच्छा व्यक्त करता है, तो उसकी भक्ति अवरुद्ध हो जाती है। भगवान् उस पर कृपा प्रदर्शित करने के लिए उसकी तथाकथित आर्थिक उन्नति तथा भौतिक ऐश्वर्य को विनष्ट कर देते हैं। इस प्रकार भक्त बारम्बार आर्थिक उन्नति करने के प्रयासों से निराश होकर अन्ततः भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। ऐसा कार्य भी *ईशविध्वंसिताशिषाम्* माना जा सकता है, जिसके द्वारा भगवान् मनुष्य के ऐश्वर्य को नष्ट करके उसे आध्यात्मिक ज्ञान से सम्पन्न करते हैं। उपदेश देते समय हमने देखा है कि भौतिकतावादी व्यक्ति हमारे पास आते हैं और आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए नमस्कार करते हैं, जिसका अर्थ होता है कि वे और अधिक भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा रखते हैं। यदि उनकी इस प्रकार की ऐश्वर्य-इच्छा को रोका जाये तो ऐसे व्यक्ति भक्तों को कभी नमस्कार भी न करना चाहें। ऐसे भौतिकतावादी पुरुष केवल अपनी आर्थिक प्रगति से नाता रखते हैं। वे सन्तों या परमेश्वर को प्रणाम करते हैं और उपदेश कार्य के लिए कुछ दान देते हैं जिससे उन्हें और आर्थिक लाभ हो सके।

किन्तु यदि कोई अपनी भक्ति में एकनिष्ठ है, तो भगवान् उस भक्त को अपनी आर्थिक प्रगति त्यागने के लिए बाध्य करते हैं और अपने प्रति पूर्ण समर्पण करा लेते हैं। चूँकि भगवान् अपने भक्त को ऐश्वर्य का वरदान नहीं देते, अतः लोग भगवान् विष्णु की पूजा करने से डरते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि भगवान् विष्णु को पूजने वाले वैष्णव धनी नहीं होते। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी पुरुष शिवजी की उपासना करके धन प्राप्त करने के अनेक अवसर प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि शिवजी देवी दुर्गा के पति हैं, जो इस ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री हैं। शिवजी के अनुग्रह से ऐसे भक्त को देवी दुर्गा से आशीर्वाद प्राप्त

करने का सुयोग प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, रावण शिवजी का महान् उपासक तथा भक्त था जिसके बदले में उसे देवी दुर्गा के समस्त वर प्राप्त थे, यहाँ तक कि उसके सारे साम्राज्य के भवन स्वर्ण निर्मित थे। इस युग में ब्राजील में स्वर्ण की अथाह राशि मिली है और पुराणों में प्राप्त ऐतिहासिक सन्दर्भों से हम यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि यह रावण का साम्राज्य था। किन्तु भगवान् रामचन्द्र द्वारा यह साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया गया था।

ऐसी घटनाओं के अध्ययन से हम ईश-विध्वंसिताशिषाम् का पूरा अर्थ समझ सकते हैं। भगवान् कभी अपने भक्तों को भौतिक आशीष नहीं देते, क्योंकि इससे वे संसार में जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चक्र में पुनः उलझ जाएँगे। भौतिक ऐश्वर्य से रावण—जैसे व्यक्ति इन्द्रिय तृप्ति के लिए फूल उठते हैं। रावण ने सीता का, जो भगवान् रामचन्द्र की पत्नी तथा ऐश्वर्य की देवी थीं, यह सोचकर अपहरण करने का दुःसाहस किया कि वह भगवान् की ह्लादिनी शक्ति को भोग सकेगा। किन्तु वास्तव में ऐसे कार्य से रावण विनष्ट हो गया। आज के समय की मानवीय सभ्यता आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति इतनी अधिक आसक्त है कि वह विनाश के कगार पर खड़ी है।

तत्त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थूषां च

देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।

यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विश्वगाविः

प्रत्यक्कास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; त्वम्—तुम्; नर—इन्द्र—हे श्रेष्ठ राजन्; जगताम्—चरों का; अथ—इसलिए; तस्थूषाम्—अचर; च—भी; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; असु—प्राण; धिषणा—विचार से; आत्मभिः—आत्म-साक्षात्कारसे; आवृतानाम्—इस प्रकार से आच्छादित लोगों का; यः—जो; क्षेत्र-वित्—क्षेत्र का ज्ञाता; तपतया—वश में करके; हृदि—हृदय में; विश्वक्—हर जगह; आविः—अभिव्यक्त; प्रत्यक्—प्रत्येक रोमकूप में; चकास्ति—चमकता हुआ; भगवान्—श्रीभगवान्; तम्—उसको; अवेहि—जानने का प्रयास करो; सः अस्मि—मैं वह हूँ।

सनत्कुमार ने राजा को उपदेश दिया—अतः हे राजा पृथु, उन भगवान् को समझने का प्रयास करो जो प्रत्येक हृदय में प्रत्येक जीव के साथ निवास कर रह रहे हैं, चाहे वह चर हो या अचर। प्रत्येक जीव स्थूल भौतिक शरीर से तथा प्राण एवं बुद्धि से निर्मित सूक्ष्म शरीर से पूर्णतया आवृत है।

तात्पर्य : इस श्लोक में विशेष रूप से यह उपदेश दिया गया है मनुष्य जीवन में आर्थिक विकास

के लिए प्रयत्न करने तथा इन्द्रियतृप्ति में समय गँवाने की अपेक्षा मनुष्य को चाहिए कि वह उन भगवान् को समझते हुए आध्यात्मिक गुणों के अनुशीलन का प्रयत्न करे, जो प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान हैं। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही रूपों में एक साथ भगवान् इस शरीर में आसीन हैं, जो स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों से ढका रहता है। इसे समझ लेना ही वास्तविक आध्यात्मिक संस्कृति पाना है। आध्यात्मिक संस्कृति में प्रगति करने की दो विधियाँ हैं—एक तो निर्विशेषवादियों की विधि तथा दूसरी भक्ति। निर्विशेषवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह तथा परमात्मा एक हैं, किन्तु भक्त अथवा सगुणवादी परम सत्य का साक्षात्कार यह समझकर कर सकता है कि प्रभु परम नियन्ता है, हम जीवात्माएँ उसी के अधीन हैं और हमारा धर्म है कि हम उसकी सेवा करें। वैदिक आदेश है—*तत्त्वमसि* “तुम वही हो” तथा *सोऽहम्* “मैं वही हूँ।” इन मंत्रों की निर्विशेषवादी व्याख्या है कि परमेश्वर या परम सत्य तथा जीवात्मा एक हैं, किन्तु भक्तों के मत से ये मंत्र इस पर बल देते हैं कि परमेश्वर तथा हम सभी समान गुण वाले हैं। *तत्त्वमसि, अयम् आत्मा ब्रह्म*। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही आत्मा हैं। इसको समझना ही आत्म-साक्षात्कार है। यह मनुष्य जीवन आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा परमेश्वर तथा अपने आपको जानने के लिए है। मनुष्य को चाहिए कि केवल आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति में ही अमूल्य जीवन को विनष्ट न करे।

इस श्लोक में *क्षेत्रवित्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (१३.२) में इस शब्द की व्याख्या की गई है—*इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते*। यह शरीर क्षेत्र (कर्मक्षेत्र) कहलाता है और शरीर के स्वामी (आत्मा तथा शरीर स्थित परमात्मा) *क्षेत्रवित्* कहलाते हैं। किन्तु इन दोनों क्षेत्रवितों में अन्तर है। एक *क्षेत्रवित्* अर्थात् शरीर का ज्ञाता परमात्मा है, जो प्रत्येक आत्मा को निर्देशित करता रहता है। परमात्मा से सही निर्देश प्राप्त करने पर सफलता प्राप्त होती है। वे भीतर तथा बाहर दोनों ओर से निर्देश देने वाले हैं। भीतर से वे *चैत्य गुरु* अर्थात् हृदय में स्थित गुरु के रूप में निर्देश देते हैं। अप्रत्यक्ष रूप में वे बाहर से गुरु के रूप में प्रकट होकर जीवात्मा की सहायता करते रहते हैं। दोनों ही तरह से भगवान् जीवात्मा को निर्देश देते रहते हैं जिससे वह भौतिक कार्यकलाप पूरा करके भगवान् के धाम वापस जा सके। कोई भी व्यक्ति चाहे तो वह शरीर के भीतर आत्मा तथा परमात्मा को देख सकता है, क्योंकि जब तक इन दोनों का शरीर के भीतर निवास रहता है तब तक शरीर आभामय और ताजा बना

रहता है। किन्तु इन दोनों के प्रयाण करते ही स्थूल शरीर सड़ने लगता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से आगे है, वह मृत शरीर तथा सजीव शरीर में अन्तर जान कर सकता है। निष्कर्ष रूप में, मनुष्य को चाहिए कि तथाकथित आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति में अपना समय न गँवा कर परमात्मा तथा आत्मा एवं उनके सम्बन्ध को समझने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करे। इस प्रकार ज्ञान के बढ़ने से मनुष्य को मोक्ष तथा जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि यदि कोई तथाकथित सांसारिक कर्तव्यों का परित्याग भी कर दे और मोक्ष मार्ग का अनुगमन करे तो भी वह घाटे में नहीं रहता। किन्तु जो व्यक्ति मोक्ष मार्ग को ग्रहण नहीं करता और फिर भी आर्थिक उन्नति तथा इन्द्रियतृप्ति सम्पन्न करता रहता है, वह सब कुछ खो देता है। इस प्रसंग में व्यासदेव के समक्ष नारद का यह कथन (भागवत १.५.१७) अत्यन्त उपयुक्त है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे

भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

यदि कोई व्यक्ति चाहे भावावेश में हो या अन्य किसी कारण से भगवान् के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करता है और यदि कालक्रम में जीवन का चरम लक्ष्य नहीं प्राप्त कर पाता या अनुभव की कमी से नीचे गिर जाता है, तो कोई क्षति नहीं होती। किन्तु जो मनुष्य भक्ति न करके केवल अपने भौतिक कर्तव्य ही अच्छी तरह निबाहता है उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति

माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः ।

तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्धतत्त्वं

प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह; सत्-असत्—परमेश्वर तथा उनकी शक्तियाँ; आत्मतया—समस्त कार्य तथा कारण के मूल रूप; विभाति—प्रकट करता है; माया—माया, मोह; विवेक-विधुति—जानबूझ कर मुक्त किये गये; स्रजि—रस्सी में; वा—अथवा; अहि—सर्प; बुद्धिः—बुद्धि; तम्—उसको; नित्य—शाश्वत रूप से; मुक्त—मुक्त; परिशुद्ध—कल्मषहीन; विशुद्ध—शुद्ध; तत्त्वम्—सत्य; प्रत्यूढ—दिव्य; कर्म—सकाम कर्म; कलिल—अपवित्रताएँ; प्रकृतिम्—आध्यात्मिक शक्ति में स्थित; प्रपद्ये—आत्मसमर्पण करो।

भगवान् इस शरीर के भीतर कारण तथा कार्य के एकाकार रूप में अपने को प्रकट करते हैं, किन्तु जो विवेक रस्सी में सर्प के भ्रम को दूर करने वाला है, यदि उससे किसी ने माया को पार कर लिया है, तो वही यह समझ सकता है कि परमात्मा भौतिक सृष्टि से परे हैं और शुद्ध अन्तरंगा शक्ति में स्थित हैं। भगवान् समस्त भौतिक कल्मष से परे हैं और एकमात्र उन्हीं की शरण में जाना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक का मन्तव्य मायावादियों के आत्मा और परमात्मा के एकाकार होने के निष्कर्ष का खण्डन करना है। मायावादी निष्कर्ष यह है कि आत्मा तथा परमात्मा एक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। मायावादियों का दावा है कि निर्गुण ब्रह्म से परे कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है और पृथक्त्व की भावना ही माया है, जिस कारण मनुष्य रस्सी को सर्प समझ बैठता है। रस्सी तथा सर्प का दृष्टान्त आमतौर पर मायावादी दार्शनिक प्रस्तुत करते हैं। अतः *विवर्तवाद* के सूचक ये शब्द यहाँ पर विशेष रूप से आये हैं। वास्तव में परमात्मा ही भगवान् हैं और वह नित्य-मुक्त हैं। दूसरे शब्दों में, इस शरीर के भीतर आत्मा के साथ-साथ परमात्मा का भी निवास करता रहता है, जिसकी पुष्टि वेदों में भी की गई है। वे एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्रों की भाँति हैं, तो भी परमात्मा माया से ऊपर है। माया को *बहिरंगा शक्ति* कहते हैं और जीवात्मा तटस्था शक्ति कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। भौतिक शक्ति, जिसका प्रतिनिधित्व पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश इत्यादि के रूप में होता है तथा आत्मशक्ति अर्थात् जीवात्मा दोनों ही परमेश्वर की शक्तियाँ हैं। यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान एकरूप हैं, किन्तु जीवात्मा अर्थात् जीव बहिरंगा शक्ति से प्रभावित होने की सम्भावना के कारण भगवान् को अपने से अभिन्न मानता है।

इस श्लोक का *प्रपद्ये* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह *भगवद्गीता* के (१८.६६) निष्कर्ष का सूचक है—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।* अन्यत्र भगवान् कहते हैं—*बहूनां जन्मानाम्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते (भगवद्गीता ७.१९)।* यह *प्रपद्ये* या *शरणं ब्रज* परमात्मा के प्रति प्राणी के समर्पण का सूचक है। जब जीव आत्मसमर्पण कर चुकता है, तो उसकी समझ में आता है कि यद्यपि भगवान् उसके हृदय में स्थित हैं, किन्तु वे उससे श्रेष्ठ हैं। भगवान् सदैव संसार से परे हैं, यद्यपि भगवान् तथा संसार एक ही लगते हैं। वैष्णव दर्शन के अनुसार वे एक होने के साथ-साथ भिन्न भी हैं। भौतिक

शक्ति उनकी बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है और चूँकि शक्ति शक्तिमान से अभिन्न है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् तथा आत्मा (जीव) एक हैं, किन्तु वास्तव में जीव भौतिक शक्ति के वश में रहता है, जबकि भगवान् सदा उससे परे। जब तक भगवान् जीव से श्रेष्ठ न हो तब तक प्रपद्ये अर्थात् शरण जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रपद्ये शब्द भक्ति की विधि का सूचक है। मात्र रस्सी तथा सर्प के भक्तिहीन चिन्तन से कोई परम सत्य तक नहीं पहुँच सकता। अतः परम सत्य को समझने के लिए विचार-विमर्श या कल्पना की अपेक्षा भक्ति पर बल दिया गया है।

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या

कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।

तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-

स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—चरण; पङ्कज—कमल; पलाश—पंखुड़ियाँ या अंगूठे; विलास—भोग; भक्त्या—भक्ति से; कर्म—सकाम कर्म; आशयम्—इच्छा; ग्रथितम्—कठोर ग्रंथि; उद्ग्रथयन्ति—समूल नष्ट कर देते हैं; सन्तः—भक्तजन; तत्—उसके; वत्—सदृश; न—कभी नहीं; रिक्त-मतयः—भक्ति से रहित मनुष्य; यतयः—अधिकाधिक प्रयत्न करके; अपि—यद्यपि; रुद्ध—बन्द; स्रोतः—गणाः—इन्द्रियसुख की लहरें; तम्—उसको; अरणम्—शरण ग्रहण करने योग्य; भज—भक्ति में लगे; वासुदेवम्—वासुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की।

जो भक्तजन नित्य ही भगवान् के चरणकमलों के अँगुष्ठों की सेवा में रत रहते हैं, वे सकाम कर्म की जोर से बँधी गाँठ जैसी इच्छाओं को सरलता से लाँघ जाते हैं। चूँकि ऐसा कर पाना दुःसाध्य है, अतः अभक्तजन—ज्ञानी तथा योगी—इन्द्रियतृप्ति की तरंगों को रोकने का प्रयास करके भी ऐसा नहीं कर पाते। अतः तुम्हें आदेश है कि तुम वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की भक्ति में लग जाओ।

तात्पर्य : तीन प्रकार के अध्यात्मवादी—ज्ञानी, कर्मी तथा भक्त—प्रकृति के गुणों के प्रभाव पर काबू पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये सभी इन्द्रियों के प्रभाव को, जो नदी की निरन्तर लहरों के समान हैं, जीतने का प्रयत्न करते हैं। नदी की लहरें अनवरत उठती रहती हैं, उन्हें रोक पाना दुष्कर होता है। इसी प्रकार भौतिक सुख की इच्छा की लहरें भी इतनी प्रबल होती हैं कि उन्हें भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं रोका जा सकता। भक्तजन भगवान् के चरणकमलों के प्रति अपनी दिव्य भक्ति के कारण दिव्य आनन्द से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि उनकी भौतिक सुख की इच्छाएँ

स्वयमेव रुक जाती हैं। ज्ञानी तथा योगी भगवान् के चरणकमलों में आसक्त न होने के कारण इच्छा की तरंगों से संघर्ष करते रहते हैं। उन्हें इस श्लोक में *रिक्तमतयः* कहा गया है, जिसका अर्थ है भक्ति से विहीन। दूसरे शब्दों में, यद्यपि ज्ञानी तथा योगी भौतिक कर्मों की इच्छाओं से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वस्तुतः वे इन्द्रियों के कार्यकलापों को रोकने के मिथ्या दार्शनिक चिन्तन या श्रमसाध्य प्रयत्नों में उलझते जाते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है (*भागवत* १.२.७) —

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

यहाँ भी उसी बात पर बल है। भज *वासुदेवम्* बताता है कि जो वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह सरलता से इच्छा की तरंगों को रोक सकता है। जब तक इन तरंगों को कृत्रिम ढंग से रोकने का प्रयास होता रहेगा, उसे असफलता ही हाथ लगेगी। इस श्लोक में यही संकेत मिलता है। सकाम कर्म की इच्छाओं की जड़ें गहरी होती हैं, किन्तु इच्छा रूपी वृक्षों को भक्ति से पूर्ण रूप से उन्मूलित किया जा सकता है, क्योंकि भक्ति श्रेष्ठ इच्छा का प्रयोग करती है। श्रेष्ठ इच्छाओं में लगे रहने से निकृष्ट इच्छाओं को त्यागा जा सकता है, इच्छा को रोक पाना असम्भव है। निकृष्ट इच्छाओं में प्रवृत्त न हों, इसके लिए परमेश्वर की इच्छा करनी होती है। ज्ञानी लोग परमेश्वर से एकाकार होने की इच्छा बनाये रखते हैं, किन्तु ऐसी इच्छा को भी काम-वासना माना जाता है। इसी प्रकार से योगी योगशक्ति की कामना करते हैं, किन्तु वह भी काम-वासना है। किन्तु भक्त इच्छारहित होने के कारण पवित्र हो जाते हैं। उन्हें इच्छा रोकने के लिए किसी कृत्रिम उपाय की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान् के चरणकमलों के अँगूठों के संरक्षण में इच्छाएँ आध्यात्मिक सुख की साधन बन जाती हैं। यहाँ कुमारों द्वारा यह बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल समस्त सुखों (आनन्द) के आगार हैं। अतः वृथा ही भौतिक सुख के लिए इच्छाओं को रोकने का विफल प्रयास करने के बजाय मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करे। जब तक वह भौतिक सुख के लिए इच्छाओं को रोकने में असमर्थ रहता है, तब तक इस संसार के बन्धन से मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह तर्क किया जा सकता है कि नदी की तरंगें लगातार समुद्र की ओर बहती रहती हैं और उन्हें रोका नहीं जा सकता। जब ज्वार आता है, तो इससे नदी की धारा रुद्ध हो जाती है

और स्वयं नदी में बाढ़ आ जाती है। उस समय समुद्र की लहरें नदी की लहरों से अधिक मुखर हो उठती हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान भक्त कृष्णचेतना में भगवान् की सेवा के हेतु कई तरह की योजनाएँ बनाता है, जिससे अचल भौतिक इच्छाएँ भगवान् की सेवा की इच्छाओं से आप्लावित हो जाती हैं। जैसाकि यामुनाचार्य ने पुष्टि की है कि जब से वे भगवान् के चरणकमलों की सेवा की ओर उन्मुख हुए, तब से नित्य ही भगवान् की सेवा करने की नवीन से नवीन इच्छाएँ उठती रहती हैं, जिसके फलस्वरूप विषयी जीवन की अचल इच्छा तुच्छ पड़ गई है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वे ऐसी इच्छाओं पर थूकते हैं। *भगवद्गीता* (२.५९) भी पुष्टि करती है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—निष्कर्षतः भगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए प्रेमपूर्ण इच्छा विकसित करने से इन्द्रियतृप्ति की सारी इच्छाएँ दमित हो सकती हैं।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रममुखेन तितीर्षन्ति ।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि
कृत्वोदुपं व्यसनमुत्तर दुस्तराणाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रः—कष्टकारक; महान्—अत्यधिक; इह—यहाँ (इस जीवन में); भव-अर्णवम्—संसार रूपी समुद्र; अप्लव-ईशाम्—अभक्तों का जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की शरण नहीं ग्रहण की; षट्-वर्ग—छहों इन्द्रियाँ; नक्रमम्—मगर; असुखेन—अत्यन्त कठिनाई से; तितीर्षन्ति—पार करते हैं; तत्—अतः; त्वम्—तुम; हरेः—भगवान् के; भगवतः—परमेश्वर के; भजनीयम्—आराधनीय; अङ्घ्रिम्—चरणकमल को; कृत्वा—करके; उदुपम्—नाव; व्यसनम्—सभी प्रकार के संकट; उत्तर—पार करो; दुस्तर—अत्यन्त कठिन; अर्णम्—सागर को।

अज्ञान के सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसमें अनेक भयानक मगरमच्छ भरे पड़े हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे इस समुद्र को पार करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु हम तुम्हारे लिए बता रहे हैं कि तुम एकमात्र भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लो, वे समुद्र को पार करने के लिए नाव के समान हैं। यद्यपि सागर को लाँघना कठिन है, किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके तुम सभी संकटों को पार कर जाओगे।

तात्पर्य : यहाँ पर संसार की तुलना अज्ञान के विशाल सागर से की गई है। इस सागर का दूसरा नाम *वैतरणी* है। वैतरणी समुद्र कारणार्णव है, जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड गेंदों के समान तैर रहे हैं। इस सागर की दूसरी ओर (उस पार) वैकुण्ठ का दिव्य लोक है, जिसे *भगवद्गीता* (८.२०) में *परस्तस्मात्*

भावोऽन्यः कहा गया है। इस प्रकार इस भौतिक प्रकृति के परे एक निरन्तर विद्यमान रहने वाली आध्यात्मिक प्रकृति है। यद्यपि कारणार्णव में सारे भौतिक ब्रह्माण्ड बारम्बार विलीन होते रहते हैं, किन्तु वैकुण्ठलोक आध्यात्मिक होने के कारण कभी विनष्ट नहीं होते। वे नित्य विद्यमान रहते हैं। मनुष्य शरीर धारण करने से जीवात्मा को अज्ञान सागर, जो यही भौतिक ब्रह्माण्ड है, पार कर के परव्योम में प्रवेश होने का अवसर प्राप्त होता है। यद्यपि अनेक उपायों या नावों से समुद्र पार किया जा सकता है, किन्तु कुमारगण राजा को भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने की सलाह देते हैं जैसे मनुष्य किसी अच्छी नाव का सहारा लेना चाहेगा। अभक्त लोग जो भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते, अन्य उपायों (कर्म, ज्ञान तथा योग) से अज्ञान के सागर को पार करने का यत्न करते हैं, किन्तु उन्हें इसमें काफी कठिनाई उठानी पड़ती है। कभी-कभी तो वे इतनी कठिनाई में फँस जाते हैं कि समुद्र पार ही नहीं कर पाते। अभक्तों को इसकी गारंटी नहीं कि वे समुद्र को पार कर ही लें और यदि वे पार कर भी लेंगे तो उन्हें कठिन तपस्या करनी होती है। दूसरी ओर यदि कोई भक्ति करता है और यह श्रद्धा रखता है, तो भगवान् के चरणकमल ऐसी नाव हैं, जो उसे समुद्र के पार आसानी से और सुख पूर्वक उतार देंगे।

इसीलिए पृथु महाराज को समस्त संकटों को पार करने के लिए भगवान् के चरणारविन्द रूपी नाव को ग्रहण करने की सलाह दी गई है। ब्रह्माण्ड के घातक तत्त्वों की तुलना समुद्री मगरों से की गई है। कोई भले ही कितना कुशल तैराक क्यों न हो, किन्तु उस पर यदि मगरमच्छ आक्रमण कर दें तो वह बच नहीं पाता। कभी-कभी देखा जाता है कि अनेक तथाकथित स्वामी तथा योगी अपने आपको विज्ञापित करते हैं कि वे अज्ञान के सागर को पार कर सकते हैं और अन्यो को भी पार करने में सहायता कर सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे अपनी ही इन्द्रियों के शिकार होते हैं। अपने अनुयायियों को अज्ञान रूपी समुद्र को पार कराना तो दूर रहा, ऐसे योगी तथा स्वामी स्त्री रूपी माया के शिकार हो जाते हैं और उस समुद्र के मगरों द्वारा निगल लिए जाते हैं।

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा ।

दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; सः—राजा; एवम्—इस प्रकार; ब्रह्म-पुत्रेण—ब्रह्मा के पुत्र द्वारा; कुमारेण—कुमारों में से एक के द्वारा; आत्म-मेधसा—आत्मज्ञान में पारंगत; दर्शित—दिखाया जाकर; आत्म-गतिः—आध्यात्मिक प्रगति; सम्यक्—पूर्णतया; प्रशस्य—पूजा करके; उवाच—कहा; तम्—उससे; नृपः—राजा ने।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र कुमारों में से एक के द्वारा जो पूर्ण आत्मज्ञानी था, पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करके राजा ने उनकी निम्नलिखित शब्दों से आराधना की।

तात्पर्य : इस श्लोक के आत्म-मेधसा शब्द की टीका श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने की है। वे कहते हैं आत्मनि का अर्थ है—“भगवान् श्रीकृष्ण में या परमात्मनि।” भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। ईश्वरः परमः कृष्णः (ब्रह्म-संहिता १५.१)। अतः जिसका मन कृष्णचेतना में लगा हो वह आत्म-मेधाः है। इसका विलोम शब्द गृहमेधी है, जिससे ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जिसका मन सदैव भौतिक कार्यों के चिन्तन में उलझा रहता है। आत्म-मेधाः सदैव कृष्णचेतना में श्रीकृष्ण के कार्यकलापों का चिन्तन करता रहता है। चूँकि ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार पूर्णतः श्रीकृष्ण के भक्त थे, अतः वे आत्मोन्नति का मार्ग बता सकते थे। आत्मगतिः शब्द कर्मों के उस पथ का सूचक है, जिससे मनुष्य श्रीकृष्ण को जान सकता है।

राजोवाच

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणार्तानुकम्पिना ।

तमापादयितुं ब्रह्मन्भगवन्यूयमागताः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कृतः—किया हुआ; मे—मेरे प्रति; अनुग्रहः—अहैतुकी कृपा; पूर्वम्—पहले; हरिणा—भगवान् विष्णु द्वारा; आर्त-अनुकम्पिना—दुखी पुरुषों पर दयालु; तम्—उस; आपादयितुम्—पुष्टि के लिए; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवन्—हे शक्तिमान; यूयम्—तुम सब; आगताः—यहाँ आये हो।

राजा ने कहा : हे ब्राह्मण, हे शक्तिमान, पहले भगवान् विष्णु ने मुझ पर अहैतुकी कृपा प्रदर्शित की थी और यह संकेत किया था कि आप मेरे घर पधारेंगे। आप लोग उसी आशीर्वाद की पुष्टि करने के लिए यहाँ पर आये हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु उस समय यज्ञस्थल पर प्रकट हुए थे जब राजा पृथु महान् यज्ञ (अश्वमेध) कर रहे थे और तब उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि कुमारगण शीघ्र ही आएँगे और राजा को उपदेश देंगे। अतः महाराज पृथु को भगवान् की अहैतुकी कृपा का स्मरण था, इसलिए उन्होंने कुमारों के आगमन पर उनका स्वागत किया, क्योंकि वे भगवान् की भविष्यवाणी को पूरा कर रहे थे।

दूसरे शब्दों में, जब भगवान् कोई भविष्यवाणी करते हैं, तो वे उसे किसी भक्त के माध्यम से पूरा करते हैं। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु ने भविष्यवाणी की थी कि भगवान् के महिमामय नाम का तथा हरे कृष्ण महामंत्र का विश्व के समस्त नगरों तथा गाँवों में प्रसार होगा। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद ने इस महान् भविष्यवाणी को पूरा करने की इच्छा व्यक्त की और हम उन्हीं के पदचिह्नों का अनुगमन कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के विषय में अर्जुन से कहा (*भगवद्गीता* ९.३१)— *कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—“हे कुन्तीपुत्र। तुम घोषणा करके बता दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होगा।” भगवान् चाहते तो यह घोषणा स्वयं कर सकते थे, किन्तु उनकी इच्छा थी कि अर्जुन यह घोषणा करे और इस प्रकार आश्वस्त होना चाहते थे कि उनका वचन खण्डित न हो। भगवान् स्वयं वचन देते हैं और उनके विश्वासपात्र भक्त उस वचन को पूरा करते हैं। भगवान् विपत्तिग्रस्त मानवता के लाभ हेतु अनेक वचन देते रहते हैं। यद्यपि भगवान् विपत्तिग्रस्त मानव पर दयालु रहते हैं, किन्तु मनुष्य सामान्यतः उनकी सेवा करने के आतुर नहीं रहते। यह सम्बन्ध पिता तथा पुत्र जैसा है। पिता अपने पुत्र के कल्याण की सदैव कामना करता है, भले ही पुत्र पिता की उपेक्षा करे या उसे भूल जाए। *अनुकम्पिना* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर जीवात्माओं पर इतने दयालु होते हैं कि वे पतितात्माओं के लाभ हेतु स्वयं इस संसार में अवतरित होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

“जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्कर्ष होता है, उस समय, हे अर्जुन! मैं अवतरित होता हूँ” (*भगवद्गीता* ४.७)।

अतः भगवान् केवल दयावश अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण पतित आत्माओं पर दया करने के लिए ही इस लोक में प्रकट हुए; भगवान् बुद्ध असुरों द्वारा मारे जाने वाले निरीह पशुओं के प्रति दयाभाव से प्रकट हुए; भगवान् नृसिंह देव प्रह्लाद महाराज पर दया करने के लिए प्रकट हुए। निष्कर्ष यह कि भगवान् इस संसार में पतितात्माओं पर इतने दयालु रहते हैं कि या तो वे स्वयं प्रकट होते हैं या अपने भक्तों तथा दासों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए भेजते हैं जिससे सारे पतित जीव

भगवान् के धाम वापस चले जाँए। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने सारे मानव समाज के लाभ के लिए अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश दिया। अतः बुद्धिमान लोगों को इस कृष्णभावानामृत-आन्दोलन के विषय में भी गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और उनके शुद्ध भक्तों द्वारा यथारूप प्रचारित *भगवद्गीता* के उपदेशों का लाभ उठाना चाहिए।

निष्पादितश्च कात्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः ।

साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

निष्पादितः च—तथा आज्ञा का समुचित पालन हो गया; कात्स्न्येन—पूर्णतः; भगवद्भिः—भगवान् के प्रतिनिधियों द्वारा; घृणालुभिः—अत्यन्त दयालु द्वारा; साधु-उच्छिष्टम्—साधु पुरुषों का जूठन; हि—निश्चय ही; मे—मेरा; सर्वम्—हर चीज; आत्मना—हृदय तथा आत्मा; सह—साथ; किम्—क्या; ददे—दूँ।

हे ब्राह्मण, आपने तो भगवान् के आदेश का सम्यक् पालन किया है, क्योंकि आप उन्हीं के समान उदार भी हैं। अतः यह मेरा कर्तव्य है कि आपको कुछ अर्पित करूँ, किन्तु मेरे पास जो कुछ भी है, वह साधु पुरुषों के भोजन में से बचा-खुचा प्रसाद ही है। मैं आपको क्या दूँ?

तात्पर्य : इस श्लोक में *साधूच्छिष्टम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज को अपना राज्य भृगु तथा अन्य साधु पुरुषों से वैसे ही प्राप्त हुआ था जैसे किसी को उच्छिष्ट (जूठन या प्रसाद) प्राप्त हो। राजा वेन की मृत्यु के बाद सारा विश्व लोकप्रिय शासक से वंचित हो चुका था। अनेक आपत्तियाँ घिरने लगी थीं, अतः भृगु आदि ऋषियों ने राजा वेन के मृत शरीर से राजा पृथु के शरीर को उत्पन्न किया। चूँकि राजा पृथु को ऋषियों की कृपा से राज्य प्राप्त हुआ था, अतः वे अपने राज्य को कुमारों जैसे ऋषियों में वितरित करना नहीं चाह रहे थे। जब पिता भोजन करता रहता है, तो वह दयावश पुत्र को भी जूठन दे सकता है, किन्तु यह जूठन पुनः पिता को नहीं दिया जा सकता, भले ही यह उसी के द्वारा चर्वित हो चुका हो। पृथु महाराज की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। उनके पास जो भी था वह उच्छिष्ट (जूठन) रूप में था, अतः उसे वे कुमारों को नहीं दे सकते थे। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने कुमारों को अपना सब कुछ दे डाला, फलतः उन्होंने उसे जिस रूप में चाहा उपभोग किया। यह अगले श्लोक से स्पष्ट होगा।

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन्गृहाश्च सपरिच्छदाः ।

राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्राणाः—प्राण, जीवन; दाराः—स्त्री; सुताः—सन्तानें; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गृहाः—घर; च—भी; स—सहित; परिच्छदाः—समस्त सामग्री; राज्यम्—राज्य; बलम्—शक्ति, सेना; मही—धरती; कोशः—खजाना; इति—इस प्रकार; सर्वम्—सब कुछ; निवेदितम्—अर्पित।

राजा ने आगे कहा : अतः हे ब्राह्मणो, मेरा प्राण, पत्नी, बच्चे, घर, घर का साज-सामान, मेरा राज्य, सेना, पृथ्वी तथा विशेष रूप से मेरा राजकोष—ये सब आपको अर्पित हैं।

तात्पर्य : दाराः के स्थान पर कहीं-कहीं रायः पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होता है “सम्पत्ति।” भारत में अब भी ऐसे धनी व्यक्ति हैं, जो राज्य द्वारा राय के रूप में सम्मानित हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का एक महान् भक्त रामानन्द राय कहलाता था, क्योंकि यह मद्रास का राज्यपाल था और अत्यन्त धनी था। अब भी अनेक राय उपाधिधारी हैं—राय बहादुर, राय चौधरी इत्यादि। दाराः अर्थात् पत्नी को ब्राह्मणों को दिये जाने की अनुमति नहीं है। दान के पात्र को सब कुछ प्रदान किया जाता है, किन्तु कहीं भी यह नहीं पाया जाता कि पत्नी दान में दी जाये; अतः यहाँ पर दाराः के स्थान पर रायः पाठ अधिक उपयुक्त है। यही नहीं, चूँकि पृथु महाराज ने कुमारों को सर्वस्व अर्पित कर दिया, अतः कोशः (खजाना) का पृथक् उल्लेख नहीं होना चाहिए था। राजे तथा महाराजे अपना निजी कोश रखते थे जिसे रत्न-भाण्ड कहा जाता था। रत्न-भाण्ड विशेष प्रकार का कोश-कक्ष होता था जिसमें विशेष प्रकार के हीरे-जवाहरात तथा चूड़ियाँ, हार इत्यादि रखे जाते थे और ये नागरिकों द्वारा राजा को भेंटस्वरूप प्राप्त होते थे। ये हीरे-जवाहरात नियमित कोश से पृथक् रखे जाते थे जिसमें भूमि-कर आदि संचित होता था। इस प्रकार पृथु महाराज ने कुमारों के चरणकमलों में अपना निजी कोष (हीरे-जवाहरात) अर्पित कर दिया। यह पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि राजा पृथु की सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों की थी। वह तो राज्य के कल्याण के लिए उसका उपयोग कर रहा था। यदि यह सम्पत्ति वास्तव में ब्राह्मणों की थी तो वह किस प्रकार पुनः उन्हें प्रदान की जा सकती है? इस सम्बन्ध में श्रीपाद श्रीधर स्वामी ने व्याख्या की है कि यह भेंट तो वैसी है जैसे दास द्वारा अपने स्वामी को दिया गया भोजन। भोजन पहले से स्वामी का होता है, क्योंकि वह उसके द्वारा खरीदा हुआ होता है, किन्तु सेवक भोजन बनाकर स्वामी के खाने योग्य बनाता है और उसे प्रदान करता है। इस तरह पृथु महाराज के पास जो कुछ था, उसे उन्होंने कुमारों को अर्पित कर दिया।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्व लोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्वर्हति ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सैना-पत्यम्—सेनापति का पद; च—तथा; राज्यम्—शासक का पद; च—तथा; दण्ड—अनुशासन; नेतृत्वम्—नेतृत्व; एव—निश्चय ही; च—तथा; सर्व—समस्त; लोक-अधिपत्यम्—लोकों का स्वामित्व; च—तथा; वेद-शास्त्र-वित्—वैदिक साहित्य का ज्ञाता; अर्हति—पात्र होता है ।

चूँकि केवल ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक ज्ञान के अनुसार पूर्ण रूप से शिक्षित हो, सेनापति, राज्य का शासक, दण्डदाता तथा सारे लोक का स्वामी होने का पात्र होता है, अतः पृथु महाराज ने कुमारों को सर्वस्व अर्पित कर दिया ।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि केवल साधु पुरुषों तथा कुमारों-जैसे ब्राह्मणों के आदेशों पर राज्य का शासन चलाया जाना चाहिए। जब संसार भर में राजतंत्र का बोलबाला था, तो राजा को साधु-पुरुष तथा ब्राह्मणों की परिषद् ही निर्देश देती थी। राज्य का शासक अर्थात् राजा ब्राह्मणों के दास के रूप में अपना कार्य करता था। ऐसा नहीं था कि ब्राह्मण या राजागण तानाशाह थे, न ही वे अपने को राज्य का स्वामी समझते थे। राजा भी वैदिक साहित्य में पारंगत होते थे और इस तरह वे ईशोपनिषद् के इस आदेश से परिचित होते थे—ईशावास्यमिदं सर्वम्—जो कुछ भी विद्यमान है, वह भगवान् का है। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं कि वे सभी लोकों के स्वामी हैं (सर्व-लोकमहेश्वरम्)। ऐसा होने से कोई भी अपने को राज्य का स्वामी नहीं कह सकता। राज्य के राजा, राष्ट्रपति या अध्यक्ष को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वामी नहीं, अपितु दास है।

वर्तमान युग के राजा या राष्ट्रपति यह भूल जाते हैं कि वे ईश्वर के दास हैं। वे अपने को जनता का दास समझते हैं। वर्तमान प्रजातंत्र सरकार अपने को जनता की सरकार घोषित करती है—ऐसी सरकार जो जनता द्वारा जनता के लिए बनी है, किन्तु वेदों में इस प्रकार की सरकार की स्वीकृति नहीं दी गई है। वेदों का मत है कि राज्य का संचालन भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होना चाहिए, अतः इसे भगवान् के प्रतिनिधि द्वारा शासित होना चाहिए। यदि राज्य का अध्यक्ष वैदिक ज्ञान से विहीन हो तो उसे शासक नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि सभी उच्च सरकारी पद ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं, जो वेदों की शिक्षाओं से ज्ञात हों (वेदशास्त्रविद् अर्हति)। वेदों में निश्चित आदेश है कि राजा, सेनापति, सैनिक तथा नागरिक किस प्रकार आचरण करें। दुर्भाग्यवश इस युग में अनेक ऐसे तथाकथित दार्शनिक हैं, जो किसी प्रमाण का उद्धरण दिये बिना आदेश देते हैं और अनेक

नेता उनके अवैधानिक आदेश का पालन करते हैं। फलतः लोग प्रसन्न नहीं हैं।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत द्वंद्वात्मक साम्यवाद का आधुनिक सिद्धान्त, जिसका अनुसरण साम्यवादी सरकारें कर रही हैं, पूर्ण नहीं है। वैदिक साम्यवाद के अनुसार राज्य के किसी भी व्यक्ति को भूखों नहीं मरना चाहिए। इस समय ऐसी अनेक भ्रष्ट संस्थाएँ हैं, जो भूखे लोगों को भोजन प्रदान करने के उद्देश्य से जनता से धन एकत्र कर रही हैं, किन्तु वे इस धन का निश्चित रूप से दुरुपयोग ही करती हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि भुखमरी का प्रश्न ही न उठे। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह छिपकली या सर्प तक को भूखों न मरने दे, उन्हें भी भोजन दिया जाये। वास्तव में भुखमरी का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और वे ऐसी व्यवस्था करते हैं कि हर एक को भोजन मिले। वेदों में (*कठोपनिषद्* २.२.१३) में कहा गया है— *एको बहूनां यो विदधाति कामान्*। परमेश्वर हर एक को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है, अतः भुखमरी का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई भूखों मरता है, तो तथाकथित शासक, अधीक्षक या राष्ट्रपति की दुर्व्यवस्था के कारण ऐसा होता है।

अतः यह स्पष्ट है, जो व्यक्ति वैदिक आदेशों में पारंगत (*वेदशास्त्रवित्*) न हो वह राष्ट्रपति, अधीक्षक आदि का चुनाव न लड़े। पहले के राजा राजर्षि होते थे, जिसका अर्थ होता है कि यद्यपि वे राजा की तरह से कार्य करते थे, किन्तु वे साधु पुरुष होते थे, क्योंकि वे वेदों की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करते थे और साधु पुरुषों तथा ब्राह्मणों के आदेशों के अनुसार राज्य करते थे। इस व्यवस्था के अनुसार आज के सारे राष्ट्रपति, अधीक्षक तथा मुख्य कार्यकारी अपने-अपने पदों के लिए अयोग्य हैं, क्योंकि उन्हें वैदिक प्राशासनिक ज्ञान नहीं है और वे बड़े-बड़े साधुओं तथा ब्राह्मणों से निर्देश नहीं प्राप्त करते। वेदों तथा ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा के कारण ही पृथु महाराज के पिता राजा वेन को ब्राह्मणों ने मार डाला था। अतः पृथु महाराज भली-भाँति जानते थे कि उन्हें साधु पुरुषों तथा ब्राह्मणों के सेवक के रूप में इस लोक का शासन करना शोभा देता है।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना; एव—ही; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; भुङ्क्ते—भोगता है; स्वम्—अपना; वस्ते—पहनता है; स्वम्—अपना; ददाति—दान देता है; च—तथा; तस्य—उसकी; एव—ही; अनुग्रहेण—कृपा से; अन्नम्—अन्न; भुङ्क्ते—खाता है; क्षत्रिय-आदयः—क्षत्रिय आदि समाज के अन्य वर्ण।

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र केवल ब्राह्मणों की कृपा से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। केवल ब्राह्मण ही ऐसे हैं, जो अपनी ही सम्पत्ति का भोग करते हैं, अपने कपड़े पहनते हैं और अपना ही धन दान में देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा नमो ब्रह्मण्य देवाय शब्दों से की जाती है, जिससे सूचित होता है कि परमेश्वर ब्राह्मणों को पूज्य देव मानते हैं। परमेश्वर सबों द्वारा पूज्य हैं, किन्तु अन्यो को शिक्षा देने के लिए वे ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करना चाहिए, क्योंकि उनका एकमात्र कार्य शब्द-ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान को सारे संसार में प्रसारित करना है। जब भी वैदिक ज्ञान के प्रसार हेतु ब्राह्मणों का अभाव होता है, तो मानव समाज में अव्यवस्था फैल जाती है। चूँकि ब्राह्मण तथा वैष्णव भगवान् के प्रत्यक्ष सेवक (दास) होते हैं, अतः वे अन्यो पर आश्रित नहीं रहते। वास्तव में संसार की सारी वस्तुएँ ब्राह्मणों की हैं, किन्तु वे विनयवश क्षत्रियों या राजाओं तथा वैश्यों या व्यापारियों से दान ग्रहण करते हैं। प्रत्येक वस्तु ब्राह्मणों की है, किन्तु क्षत्रिय सरकार तथा व्यापारी वर्ग को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को बैंकरो की भाँति अपनी अमानत में रखें और जब भी ब्राह्मणों को धन की आवश्यकता पड़े तो क्षत्रिय तथा वैश्य तुरन्त उसकी पूर्ति करें। यह बचतखाते की भाँति है, जिसका जमाकर्ता इच्छानुसार अपना धन निकाल सकता है। भगवान् की सेवा में रत रहने के कारण ब्राह्मणों के पास इतना समय नहीं कि संसार-भर की अर्थ-व्यवस्था को सँभालें, अतः सारी पूँजी क्षत्रियों या राजाओं द्वारा रखी जाती है, जो ब्राह्मणों के माँगने पर उस पूँजी को प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में ब्राह्मण या वैष्णव पराये खर्चों पर जीवनयापन नहीं करते; वे अपना खर्च करते हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वे धन को अन्यो से एकत्र कर रहे हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों को दान देने का अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके पास जो कुछ भी रहता है, वह ब्राह्मणों का होता है। अतः केवल ब्राह्मणों के आदेश पर ही क्षत्रिय तथा वैश्य दान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस समय ब्राह्मणों का अभाव है और चूँकि तथाकथित क्षत्रिय तथा वैश्य ब्राह्मणों के आदेशों का पालन नहीं करते फलस्वरूप संसार में अराजकता फैली हुई है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति संकेत करती है कि क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ब्राह्मणों की कृपा से ही

भोजन पाते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें ब्राह्मणों द्वारा वर्जित कोई भी चीज नहीं खानी चाहिए। ब्राह्मण तथा वैष्णव जानते हैं कि क्या खाना चाहिए और वे कोई ऐसी वस्तु नहीं खाते जो पहले भगवान् को अर्पित न की जा चुकी हो। वे केवल प्रसाद अर्थात् भगवान् को अर्पित भोजन का जूठन खाते हैं। क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को केवल कृष्ण-प्रसाद खाना चाहिए जो उन्हें ब्राह्मणों की कृपा से प्रदान किया जाता है। वे कसाईघर खोलकर मांस, मछली या अंडा नहीं खा सकते, न शराब पी सकते हैं और न बिना अनुमति के इस कार्य के लिए धन अर्जित कर सकते हैं। चूँकि वर्तमान युग में समाज का संचालन ब्राह्मणों के आदेशों से नहीं होता, अतः सारी जनता पापकर्मों में डूबी है। फलस्वरूप सबों को प्रकृति दंडित कर रही है। कलियुग की दशा ऐसी ही है।

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद

एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।

तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं

को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

यैः—उनके द्वारा; ईदृशी—इस प्रकार की; भगवतः—भगवान् की; गतिः—गति; आत्म-वादे—आध्यात्मिक विचार; एकान्ततः—पूर्ण जानकारी में; निगमिभिः—वैदिक साक्ष्यों से; प्रतिपादिता—निश्चित रूप से स्थापित; नः—हमको; तुष्यन्तु—तुष्ट हों; अदभ्र—अनन्त; करुणाः—कृपा; स्व-कृतेन—अपने कार्य से; नित्यम्—शाश्वत; कः—कौन; नाम—कोई नहीं; तत्—वह; प्रतिकरोति—प्रतिकार या बदला ले सकता है; विना—रहित; उद-पात्रम्—अंजली में पानी देना।

पृथु महाराज ने आगे कहा : जिन व्यक्तियों ने भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार के पथ को बता कर अपार सेवा की हो और जिनकी व्याख्याएँ पूर्ण विश्वास एवं वैदिक साक्ष्य द्वारा हमारे उत्थान के लिए की जाती हों, भला उनसे उद्धरण होने के लिए अंजुली-भर जल के अतिरिक्त और क्या अर्पित किया जा सकता है? ऐसे महापुरुषों को उनके ही कार्यों के द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता है, जो उनकी अपार कृपावश मानव समाज के बीच में संवितरित हुए हैं।

तात्पर्य : संसार के महापुरुष मानव समाज के कल्याण हेतु सेवा करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु वह व्यक्ति सबसे बड़ी सेवा करता है, जो भगवान् के सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार सम्बन्धी ज्ञान का वितरण करता है। समस्त जीवात्माएँ माया के चंगुल में हैं, किन्तु वे अपनी वास्तविक पहचान को भूल कर शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के लिए एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करते हुए संसार में भटकती

रहती हैं। किन्तु इन जीवात्माओं को आत्म-साक्षात्कार का रंचमात्र ज्ञान न होने से मानसिक शान्ति तथा स्थायी सुख की इच्छा रखते हुए भी चैन नहीं मिलता। कुमारगण, नारद, प्रह्लाद, जनक, शुकदेव गोस्वामी, कपिल देव जैसे साधु पुरुष तथा वैष्णव आचार्यों के अनुयायी एवं दास भी भगवान् एवं जीवात्मा सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार करके मानवता की बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान मानवता के लिए वरदान है।

श्रीकृष्ण का ज्ञान ऐसा ही एक महान् उपहार है, कि लाभ-दाता को जिसका बदला चुका पाना असम्भव है। इसीलिए पृथु महाराज ने कुमारों से प्रार्थना की कि वे जीवों को माया के चंगुल से उबारने के अपने उपकारी कार्यों से ही तुष्ट हों। राजा ने देखा कि उनके महान् कार्यों के लिए उन्हें सन्तुष्ट करने का कोई अन्य साधन नहीं है। *विनोद-पात्रम्* शब्द को दो शब्दों में विभाजित किया जा सकता है— *विना* तथा *उद-पात्रम्* या फिर इसे एक ही शब्द मानने पर इसका अर्थ होगा 'हँसाने वाला', 'मसखरा'। मसखरे का कार्य केवल हँसाना है और जो व्यक्ति गुरु या कृष्ण के दिव्य सन्देश के शिक्षक से उन्नत होने का प्रयास करता है, वह मसखरे की तरह उपहास का पात्र बन जाता है, क्योंकि ऐसे ऋण को चुका पाना असम्भव है। सबों का श्रेष्ठ मित्र तथा उपकारी वह है, जो मनुष्यों में मूल कृष्णचेतना जागरित कर सके।

मैत्रेय उवाच

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः ।

शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभवन्मिषतां नृणाम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महर्षि मैत्रेय ने कहा; ते—वे; आत्म-योग-पतयः—भक्ति द्वारा आत्म-साक्षात्कार के स्वामी; आदि-राजेन—मूल राजा (पृथु) द्वारा; पूजिताः—पूजित; शीलम्—आचरण; तदीयम्—राजा का; शंसन्तः—प्रशंसति होकर; खे—आकाश में; अभवन्—प्रकट हुआ; मिषताम्—देखते हुए; नृणाम्—मनुष्यों के।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : महाराज पृथु द्वारा इस प्रकार पूजित होकर भक्ति में प्रवीण ये चारों कुमार अत्यन्त गद्गद हुए। दरअसल वे आकाश में दिखाई पड़े और उन्होंने राजा के शील की प्रशंसा की और सभी लोगों ने उनके दर्शन किये।

तात्पर्य : कहा जाता है कि देवता कभी भूतल का स्पर्श नहीं करते। वे केवल आकाश में ही चलते-फिरते और यात्रा करते हैं। महर्षि नारद की भाँति ही कुमारों को भी आकाश में यात्रा करने के

लिए किसी यान (यंत्र) की आवश्यकता नहीं पड़ती। सिद्धलोक के वासी भी बिना यान के अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं। चूँकि वे एक लोक से दूसरे लोक को जा सकते हैं, इसलिए वे सिद्ध कहलाते हैं—अर्थात् उन्होंने सभी योग शक्तियाँ प्राप्त की हैं। ऐसे योगसिद्ध पुरुष इस युग में पृथ्वी पर नहीं मिलते, क्योंकि मानवता इसकी पात्र नहीं है। फिर भी कुमारों ने महाराज पृथु के गुणों की तथा उनकी भक्तिमयता एवं विनयशीलता की प्रशंसा की। वे राजा पृथु की पूजा-विधि से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। महाराज पृथु की अनुकम्पा से ही उनकी प्रजा कुमारों को आकाश मार्ग में उड़ते देख सकी।

वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया ।

आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

वैन्यः—वेन महाराज के पुत्र (पृथु); तु—निस्सन्देह; धुर्यः—प्रमुख; महताम्—महापुरुषों के; संस्थित्या—पूर्णतया स्थिर होकर; आध्यात्म-शिक्षया—आत्म-साक्षात्कार के विषय में; आप्त—लब्ध; कामम्—इच्छाएँ; इव—सदृश; आत्मानम्—आत्मतोष में; मेने—विचार किया; आत्मनि—अपने में; अवस्थितः—स्थित।

महाराज पृथु अपने तत्त्वज्ञान में पूर्ण रूप से स्थित होने के कारण महापुरुषों में प्रमुख थे। वे आध्यात्मिक ज्ञान में सफलता प्राप्त व्यक्ति की भाँति परम संतुष्ट थे।

तात्पर्य : भक्ति में स्थिर रहने से मनुष्य को अत्यन्त आत्मतोष होता है। वास्तव में आत्मतोष तो शुद्ध भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त उन्हें कोई अन्य इच्छा नहीं होती। चूँकि भगवान् को किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करनी होती, अतः वे अपने आप में पूर्णतः तुष्ट रहते हैं। इसी प्रकार से जिस भक्त को भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा नहीं रहती वह परमेश्वर के ही समान आत्मतुष्ट रहता है। प्रत्येक व्यक्ति मनःशान्ति तथा आत्मतोष के पीछे दौड़ता है, किन्तु ये गुण भगवान् के शुद्ध भक्त होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं।

पिछले श्लोकों में राजा पृथु के अपने अथाह ज्ञान तथा पूर्ण भक्ति के विषय में जो कुछ कहा है उसकी यहाँ पुष्टि हो जाती है, क्योंकि वे महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। भगवद्गीता (९.१३) में श्रीकृष्ण ने महात्माओं के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

“हे पृथापुत्र! जो महापुरुष भुलावे में नहीं आते, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे भक्ति में

पूर्ण रूप से रत रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अव्यय भगवान् के रूप में जानते हैं।”

महात्मा माया के फंदे में नहीं पड़ते, वरन् वे आध्यात्मिक शक्ति के संरक्षण में रहते हैं। इसीलिए वास्तविक महात्मा सदैव भगवान् की भक्ति में रत रहता है। पृथु महाराज में महात्मा के सभी लक्षण प्रकट थे, इसीलिए उन्हें इस श्लोक में *धुर्यो महताम्* अर्थात् महात्माओं में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम् ।

यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

कर्माणि—कार्य-कलाप; च—भी; यथा-कालम्—समय तथा परिस्थिति के अनुकूल; यथा-देशम्—स्थान तथा स्थिति के उपयुक्त; यथा-बलम्—अपनी शक्ति के अनुरूप; यथा-उचितम्—जहाँ तक सम्भव हो, यथासम्भव; यथा-वित्तम्—इस सम्बन्ध में जो जितना धन व्यय कर सके; अकरोत्—सम्पन्न किया; ब्रह्म-सात्—परम सत्य में; कृतम्—किया।

आत्मतुष्ट होने के कारण महाराज पृथु समय, स्थान, शक्ति तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार जितनी पूर्णता से सम्भव हो सकता था अपने कर्तव्यों को पूरा करते थे। इन सारे कार्यों के द्वारा उनका एकमात्र उद्देश्य परम सत्य को प्रसन्न करना था। इस प्रकार उन्होंने अपने कर्मों का भली-भाँति निर्वाह किया।

तात्पर्य : महाराज पृथु एक उत्तरदायी राजा थे और उन्हें एक क्षत्रिय, एक राजा तथा एक भक्त के कार्य एक ही साथ करने होते थे। भगवद्भक्ति में कुशल होने के कारण वे अपने कार्यों को समय, शक्ति निजी धन क्षमता के अनुसार अच्छी तरह से पूरा कर सकते थे। इस दृष्टि से इस श्लोक में *कर्माणि* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज के कार्य सामान्य नहीं होते थे, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् से होता था। श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है कि जो वस्तुएँ भक्ति के अनुकूल हों उनका बहिष्कार नहीं करना चाहिए और न ही भक्ति के अनुकूल कार्यों को साधारण कर्म अथवा सकाम कर्म समझना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक सामान्य कर्मी अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु से अपना व्यवसाय चलाता है। भक्त उसी काम को उसी तरह से कर सकता है, किन्तु उसका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना रहता है। फलतः उसके कार्य साधारण नहीं होते।

अतएव पृथु महाराज के कार्यकलाप साधारण नहीं थे, अपितु वे आध्यात्मिक एवं दिव्य थे, क्योंकि उनका लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना था। जिस प्रकार योद्धा अर्जुन को श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए युद्ध करना पड़ा, उसी तरह पृथु महाराज को श्रीकृष्ण की संतुष्टि के लिए राजा के कार्य करने

पड़े। निस्सन्देह, उन्होंने सारे संसार के लिए राजा के रूप में जो कुछ किया वह भक्त के सर्वथा अनुरूप था। इसीलिए एक वैष्णव कवि ने कहा है—*वैष्णवे क्रियामुद्रा विज्ञे ना बुझाय*—शुद्ध भक्त के कार्यों को कोई नहीं समझ सकता। शुद्ध भक्त के कार्य सामान्य कार्यों की तरह लग सकते हैं, किन्तु उनके पीछे अत्यधिक महत्ता—भगवान् की संतुष्टि—व्याप्त रहती है। एक वैष्णव के कार्य-कलापों को समझने के लिए मनुष्य को अत्यन्त पटु होना पड़ता है। महाराज पृथु ने कभी भी चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों की सीमा के बाहर कोई कार्य नहीं किया, यद्यपि वैष्णव के रूप में वे सारे संसार का शासन करते रहे और उसी के साथ भगवान् को प्रसन्न करके इन सारे कार्यों से ऊपर भी बने रहे। अपने आपको शुद्ध भक्त के रूप में प्रकट न करते हुए बाह्य रूप से वे अत्यन्त शक्तिशाली तथा कर्तव्यनिष्ठ राजा बने रहे। दूसरे शब्दों में, उनका कोई भी कार्य अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं होता था, वे जो कुछ भी करते थे वह भगवान् की इन्द्रियों की तृप्ति के लिए होता था। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

फलं ब्रह्मणि सन्न्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः ।

कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

फलम्—परिणाम, फल; ब्रह्मणि—परम सत्य में; सन्न्यस्य—त्याग कर, अर्पित करके; निर्विषङ्गः—दूषित हुए बिना; समाहितः—पूर्णतया समर्पित; कर्म—कर्म; अध्यक्षम्—अधीक्षक; च—तथा; मन्वानः—सदैव चिन्तन करते हुए; आत्मानम्—परमात्मा के विषय में; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति का; परम्—अतीत, परे।

महाराज पृथु ने अपने आपको प्रकृति से परे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के शाश्वत दास के रूप में समर्पित कर दिया था। फलस्वरूप उनके कर्मों के सारे फल भगवान् को समर्पित थे। वे अपने आपको सदैव सर्वेश्वर भगवान् के दास के रूप में समझते रहे।

तात्पर्य : भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में महाराज पृथु का जीवन कर्मयोग का सुन्दर उदाहरण है। कर्मयोग शब्द का प्रयोग प्रायः *भगवद्गीता* में हुआ है और यहाँ पर महाराज पृथु इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि वास्तव में कर्मयोग क्या है। कर्मयोग के समुचित पालन की पहली आवश्यकता यहाँ पर दी गई है। *फलं ब्रह्मणि संन्यस्य* (अथवा *विन्यस्य*)—मनुष्य को अपने कर्मों का फल परब्रह्म कृष्ण पर छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य वास्तव में संन्यास आश्रम में स्थित हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.२) में कहा गया है, अपने कर्मों के फल को भगवान् को अर्पित

कर देना ही संन्यास है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

“बुद्धिमान् जन समस्त कर्मफलों के छोड़ने को त्याग कहते हैं और उस अवस्था को बड़े-बड़े विद्वान् संन्यास कहते हैं।” यद्यपि पृथु महाराज गृहस्थ जीवन बिता रहे थे, किन्तु वास्तव में वे संन्यास आश्रम में थे। अगले श्लोकों से यह स्पष्ट हो जायेगा।

निर्विषंगः (अदूषित) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि महाराज पृथु अपने कर्मों के फलों के प्रति आसक्त न थे। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य जो कुछ संचित करता है या जिसके लिए कार्य करता है उसका स्वामी बनने की सदैव सोचता रहता है। जब कोई अपने कर्मों के फल को भगवान् की सेवा में लगा देता है, तो वास्तव में वह कर्मयोग का अभ्यास करता होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मयोग का अभ्यास कर सकता है, किन्तु गृहस्थों के लिए यह विशेष रूप से सुगम है, क्योंकि वे भगवान् के श्रीविग्रह को घर में स्थापित करके भक्तियोग की विधियों से उसकी पूजा कर सकते हैं। इस विधि के नौ अंग होते हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवा, श्रीविग्रह की पूजा, प्रार्थना, आज्ञा-पालन, सखा रूप में कृष्ण की सेवा तथा उन्हें ही सर्वस्व अर्पण।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७.५.२३)

कर्मयोग तथा भक्तियोग की इन विधियों को सारे संसार में प्रसारित करने का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ कर रहा है। इन विधियों को कोई भी इसे संघ के सदस्यों के उदाहरणों का अनुसरण करने से सीख सकता है।

घर में अथवा मन्दिर में श्रीविग्रह को प्रत्येक वस्तु का स्वामी और प्रत्येक व्यक्ति को श्रीविग्रह का दास माना जाता है। भगवान् दिव्य हैं, क्योंकि वे इस सृष्टि के अंग नहीं हैं। इस श्लोक में *प्रकृतेः परम्* शब्दों का इसीलिए प्रयोग हुआ है, क्योंकि इस संसार में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति से हुई है, किन्तु भगवान् स्वयं इस शक्ति से उत्पन्न नहीं हैं। भगवान् सारी सृष्टि के परम अधीक्षक

हैं जैसाकि भगवद्गीता (९.१०) में पुष्टि की गई है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

“हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और समस्त चराचर जीवों को उत्पन्न करती है और इसीके आदेश से इस जगत का बारम्बार सृजन एवं संहार होता है।”

पदार्थ की आश्चर्यजनक अन्योन्यक्रिया से जितने भी भौतिक परिवर्तन होते हैं तथा भौतिक प्रगति होती है, वह भगवान् कृष्ण की अध्यक्षता में होती है। संसार में जितनी घटनाएँ घटती हैं, वे अंधाधुंध नहीं घटतीं। यदि कोई श्रीकृष्ण का दास बना रहता है और उनकी सेवा में सब कुछ लगा देता है, तो वह भौतिक संसार में अपने जीवन-काल में ही जीवन्मुक्त मान लिया जाता है। सामान्य रूप से शरीर त्यागने के बाद मुक्ति प्राप्त होती है, किन्तु यदि कोई पृथु महाराज की भाँति रहता है, तो इसी जीवन में वह मुक्त हो जाता है। कृष्णचेतना (भक्ति) में मनुष्य के कर्मों के फल भगवदिच्छा पर निर्भर करते हैं। निस्सन्देह फल सर्वत्र ही व्यक्तिगत पटुता पर निर्भर नहीं करता, अपितु पूर्णरूपेण भगवदिच्छा पर निर्भर करता है। फलं ब्रह्मणि संन्यस्य का वास्तविक माहात्म्य यही है। जो जीव भगवान् की सेवा में अनुरक्त हो उसे अपने आपको कभी भी स्वामी या अधीक्षक नहीं मानना चाहिए। समर्पित भक्त को भक्तियोग के वर्णित विधि-विधानों के अनुसार अपना कार्य करते रहना चाहिए। उसके कार्यों के फल पूर्ण रूप से भगवदिच्छा पर आश्रित रहते हैं।

गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः ।

नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहम्मतिरर्कवत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—घर में; वर्तमानः—उपस्थित; अपि—यद्यपि; सः—राजा पृथु; साम्राज्य—पूरा राज्य; श्रिया—ऐश्वर्य; अन्वितः—लीन; न—कभी नहीं; असज्जत—आकर्षित हुआ; इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रियतृप्ति हेतु; निः—न तो; अहम्—मैं हूँ; मतिः—विचार; अर्क—सूर्य; वत्—सदृश।

महाराज पृथु, जो अपने सारे साम्राज्य की सम्पत्ति के कारण अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे, घर में एक गृहस्थ की भाँति रहते थे। चूँकि वे अपने ऐश्वर्य का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु कभी नहीं करना चाहते थे, अतः वे विरक्त बने रहे, जिस प्रकार कि सूर्य सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गृहेषु शब्द महत्त्वपूर्ण है। चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में से केवल गृहस्थ को ही स्त्री-प्रसंग की अनुमति है, अतः गृहस्थाश्रम में एक प्रकार से भक्त के लिए इन्द्रियतृप्ति की छूट है। तो भी पृथु महाराज विशिष्ट थे, क्योंकि गृहस्थ बने रहने की छूट होने और साम्राज्य का विपुल ऐश्वर्य रहने पर भी वे कभी इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त नहीं हुए। यह विशेष लक्षण था, जो उनके भगवान् के विशुद्ध भक्त होने का सूचक था। शुद्ध भक्त कभी भी इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होता, फलस्वरूप वह मुक्त रहता है। भौतिक जीवन में मनुष्य अपनी संतुष्टि के लिए इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त होता है, किन्तु भक्ति या मुक्त जीवन में उसका लक्ष्य भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना होता है।

इस श्लोक में महाराज पृथु की उपमा सूर्य से दी गई है (अर्कवत्)। कभी-कभी सूर्य मूत्र, मल तथा अन्य दूषित वस्तुओं पर चमकता है, किन्तु सर्वशक्तिमान होने के कारण वह इन दूषित वस्तुओं के सम्पर्क में आकर भी प्रभावित नहीं होता। उल्टे सूर्य-प्रकाश दूषित तथा गंदी जगहों को विशुद्ध और कीटाणु-रहित करता है। इसी प्रकार भले भी भक्त नाना प्रकार के भौतिक कार्यकलापों में प्रवृत्त हो, किन्तु इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न होने से वह उनसे कभी प्रभावित नहीं होता। विपरित इसके वह समस्त भौतिक कार्यकलापों को भगवान् की सेवा की ओर मोड़ देता है। चूँकि शुद्ध भक्त जानता है कि किस प्रकार हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाया जाये, अतः वह भौतिक कार्यकलापों से सदा अप्रभावित रहता है। उन्हें वह अपनी दिव्य योजनाओं से ऐसे कार्यकलापों को पवित्र बना देता है। इसका वर्णन *भक्तिसामृत-सिन्धु* में हुआ है। सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्—उसका लक्ष्य भौतिक उपाधियों से प्रभावित हुए बिना भगवान् की सेवा में पूर्ण रूप से पवित्र हो जाना है।

एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन् ।

पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अध्यात्म-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; कर्माणि—कर्म; अनु—सदैव; समाचरन्—करते हुए; पुत्रान्—पुत्रों को; उत्पादयाम् आस—उत्पन्न किया; पञ्च—पाँच; अर्चिषि—अपनी पत्नी अर्चि से; आत्म—निजी; सम्मतान्—इच्छा के अनुसार।

भक्ति की मुक्त अवस्था में स्थित होकर पृथु महाराज ने न केवल समस्त सकाम कर्मों को सम्पन्न किया, अपितु अपनी पत्नी अर्चि से पाँच पुत्र भी उत्पन्न किये। निस्सन्देह, उनके सारे पुत्र

उनकी निजी इच्छानुसार उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : गृहस्थ के रूप में पृथु महाराज को अपनी पत्नी अर्चि से पाँच पुत्र प्राप्त हुए और ये पाँचों पुत्र उनकी इच्छानुसार उत्पन्न हुए थे। वे किसी सनक या संयोग से नहीं उत्पन्न हुए थे। अपनी इच्छानुसार किस प्रकार सन्तान उत्पन्न की जाये, इस युग (कलियुग) में एक प्रकार से अज्ञात है। इसका रहस्य पति-पत्नी द्वारा शुद्धि-विधियों का, जिन्हें संस्कार कहते हैं, अपनाया जाना है। इन संस्कारों में से पहला संस्कार गर्भाधान संस्कार है, जो विशेष रूप से उच्च वर्णों—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों—के लिए अनिवार्य है। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है कि जो स्त्री-प्रसंग धर्म के विपरीत नहीं रहता वह स्वयं श्रीकृष्ण है। धार्मिक नियमों के अनुसार जब कोई सन्तान उत्पन्न करना चाहे तो उसे संभोग के पूर्व गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। संभोग के पूर्व माता-पिता की जैसी मानसिकता होती है उसका प्रभाव निश्चित रूप से उत्पन्न होने वाली सन्तान की मानसिकता पर पड़ेगा। हो सकता है कामवश उत्पन्न की गई सन्तान माता-पिता की आशा के अनुरूप न निकले। शास्त्रों का कथन है—यथा योनिर्यथा बीजम्। यथा योनिः से माता का संकेत है और यथा बीजम् से पिता का। यदि संभोग के पूर्व माता-पिता की मानसिक दशा सुस्थिर है, तो उनसे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह अवश्य ही उनकी मानसिक दशा को प्रतिबिम्बित करेगी। अतः आत्मसम्मतान् शब्दों से लक्षित होता है कि सन्तान उत्पन्न करने के पूर्व पृथु महाराज तथा अर्चि ने गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न किया होगा, फलतः उनके सारे पुत्र उनकी इच्छाओं तथा विशुद्ध मानसिक दशाओं वाले उत्पन्न हुए। पृथु महाराज ने काम के वशी भूत होकर पुत्रों को जन्म नहीं दिया। न ही वे इन्द्रियतृप्ति हेतु अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट हुए थे। उन्होंने गृहस्थ के रूप में सारे विश्व में भविष्य में अपना शासन चलाने के लिए पुत्र उत्पन्न किये।

विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम् ।

सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

विजिताश्वम्—विजिताश्व नामक; धूम्रकेशम्—धूम्रकेश नामक; हर्यक्षम्—हर्यक्ष नामक; द्रविणम्—द्रविण नामक; वृकम्—वृक नामक; सर्वेषाम्—सभी; लोक-पालानाम्—लोकों के लोकपालों का; दधार—स्वीकार किया; एकः—एक; पृथुः—पृथु महाराज; गुणान्—समस्त गुणों को।

विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण तथा वृक नामक पाँच पुत्र उत्पन्न करने के बाद भी पृथु महाराज इस लोक पर राज्य करते रहे। उन्होंने अन्य समस्त लोकों पर शासन करने वाले देवों के

समस्त गुणों को आत्मसात् किया।

तात्पर्य : प्रत्येक लोक का एक प्रधान देव होता है। भगवद्गीता से पता चलता है कि सूर्य का प्रधान देव विवस्वान है। इसी प्रकार चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों के भी प्रधान देव हैं। वास्तव में अन्य समस्त लोकों के प्रधान देव सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रधान देवों की सन्तानें हैं। इस पृथ्वी लोक में दो क्षत्रिय वंश हैं: एक सूर्य के प्रधान देव से उत्पन्न है और दूसरा चन्द्रमा के प्रधान देव से। ये वंश क्रमशः सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश कहलाते हैं। जब इस लोक पर राजतंत्र था, तो इसका मुख्य सदस्य सूर्यवंशी था और अधीन राजा चन्द्रवंश के थे। किन्तु महाराज पृथु इतने शक्तिमान थे कि वे अन्य लोकों के प्रधान देवों के समस्त गुणों से ओतप्रोत थे।

आधुनिक युग में लोगों ने पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने का प्रयास किया है, किन्तु वे वहाँ किसी को भी नहीं पा सके, चन्द्रमा के प्रधान देव से मिलने की बात तो दूर रही। किन्तु वैदिक साहित्य बारम्बार कहता है कि चन्द्रमा अत्यन्त बुद्धिमान निवासियों से पूर्ण है जिनकी गणना देवताओं में की जाती है; अतः हमें हमेशा सन्देह होता रहता है कि पृथ्वी के आधुनिक विज्ञानियों ने किस प्रकार की चन्द्र-यात्रा की है!

गोपीथाय जगत्सृष्टेः काले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः ।

मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन्प्रजाः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

गोपीथाय—सुरक्षा के लिए; जगत्-सृष्टेः—परम स्रष्टा का; काले—यथा-समय; स्वे स्वे—अपने-अपने; अच्युत-आत्मकः—कृष्णभक्त होने से; मनः—मन; वाक्—शब्द; वृत्तिभिः—व्यवसाय से; सौम्यैः—अत्यन्त सौम्य, भद्र; गुणैः—गुण से; संरञ्जयन्—प्रसन्न रखते हुए; प्रजाः—नागरिक जन।

चूँकि महाराज पृथु भगवान् के पूर्ण भक्त थे, अतः वे सारे नागरिकों को उनकी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार प्रसन्न रखते हुए भगवान् की सृष्टि की रक्षा करना चाहते थे। अतः पृथु महाराज उन्हें अपनी वाणी, मन, कर्म तथा सौम्य आचरण से सभी प्रकार प्रसन्न रखते थे।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में बताया जाएगा, पृथु महाराज दूसरों के मन की बातों को समझ सकने की अलौकिक शक्ति के कारण सभी प्रकार के नागरिकों को प्रसन्न रखते थे। निस्सन्देह, वे इतने व्यवहार कुशल थे कि प्रत्येक नागरिक सन्तोष और पूर्ण शान्ति का अनुभव करता था। इस श्लोक में अच्युतात्मकः शब्द महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि महाराज पृथु इस लोक में भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में

शासन करते थे। उन्हें पता था कि वे भगवान् के प्रतिनिधि हैं और भगवान् की सृष्टि की रक्षा ठीक से होनी चाहिए। सृष्टि के पीछे क्या उद्देश्य है, इसे नास्तिक नहीं समझ सकते। यद्यपि आत्म जगत की तुलना में यह भौतिक जगत हेय है, तो भी इसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन है। आधुनिक विज्ञानी तथा दार्शनिक इस प्रयोजन को नहीं समझ सकते, न ही वे स्रष्टा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वे प्रत्येक बात को वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे किसी भी वस्तु को परम स्रष्टा में केन्द्रित नहीं करते। कोई भक्त ही सृष्टि के प्रयोजन को समझ सकता है। यह प्रयोजन है उन व्यष्टि जीवात्माओं को सुविधाएँ प्रदान करना जो भौतिक प्रकृति पर अधिकार जताना चाहती हैं। अतः इस लोक के शासक को यह जानना चाहिए कि सभी निवासी, विशेष रूप से मनुष्य, इस भौतिक जगत में इन्द्रिय-सुख भोगने के लिए आये हैं। अतः शासक का कर्तव्य है कि वह उनके इन्द्रियभोग को तुष्ट करे और साथ ही उन्हें कृष्णचेतना तक उठा दे जिससे वे अन्त में भगवान् के धाम वापस जा सकें।

राजा या शासनाध्यक्ष को इस विचार को ध्यान में रखते हुए संसार में राज्य करना चाहिए। इससे हर व्यक्ति संतुष्ट रहेगा। किन्तु यह कैसे किया जाये? महाराज पृथु के समान अनेक उदाहरण हैं और इस लोक में उनके शासन का इतिहास श्रीमद्भागवत में विस्तार से वर्णित है। इस पतित युग में भी यदि शासक, अधीक्षक तथा राष्ट्रपति पृथु महाराज के उदाहरण से लाभ उठाएँ तो सारे संसार में निश्चय ही शान्ति तथा सम्पन्नता का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

राजेत्यधानामधेयं सोमराज इवापरः ।

सूर्यवद्विसृजन्गृह्णन्प्रतपंश्च भुवो वसु ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

राजा—राजा; इति—इस प्रकार; अधात्—ले लिया; नामधेयम्—नामधारी; सोम-राजः—चन्द्रलोक का राजा; इव—सदृश; अपरः—दूसरी ओर; सूर्य-वत्—सूर्यदेव के समान; विसृजन्—वितरित करते हुए; गृह्णन्—खींचते हुए; प्रतपन्—कठोर अनुशासन से; च—भी; भुवः—संसार का; वसु—कर या लगान।

महाराज पृथु चन्द्र के राजा सोमराज के समान विख्यात हो गये। वे सूर्यदेव के समान शक्तिशाली तथा कर-संग्रहणकर्ता भी थे। सूर्य ताप तथा प्रकाश बाँटता है, किन्तु साथ ही समस्त लोकों के जल को खींच लेता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में महाराज पृथु की तुलना सूर्य तथा चन्द्रमा के राजाओं से की गई है। चन्द्रमा तथा सूर्य के राजा ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिस तरह भगवान् ब्रह्माण्ड को शासित होना

देखना चाहते हैं। सूर्य ताप तथा प्रकाश वितरित करता है और साथ ही सभी लोकों के जल को खींचता रहता है। चन्द्रमा रात्रि में अत्यन्त सुहावना लगता है और दिन में सूर्य के ताप में किए कार्य से थका व्यक्ति चन्द्रमा के प्रकाश में आनन्द उठा सकता है। सूर्यदेव के समान पृथु महाराज ने अपने राज्य को सुख प्रदान करने के लिए अपना ताप तथा प्रकाश वितरित किया, क्योंकि बिना ताप तथा प्रकाश के कोई जीवित नहीं रह सकता। इसी तरह पृथु महाराज एक ओर जनता पर कर लगाते और नागरिकों तथा सरकार को इतने कड़े आदेश देते कि कोई भी उनकी अवज्ञा करने का साहस न करता। दूसरी ओर वे चाँदनी के समान सबों को प्रसन्न रखते। चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का ही कुछ न कुछ प्रभाव होता है, जिससे ब्रह्माण्ड में व्यवस्था बनी रहती है। आधुनिक विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को ब्रह्माण्ड-पालन की भगवान् की पक्की व्यवस्था से परिचित हो लेना चाहिए।

दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः ।

तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

दुर्धर्षः—अजेय; तेजसा—तेज से; इव—सदृश; अग्निः—अग्नि; महा-इन्द्रः—स्वर्ग के राजा; इव—के समान; दुर्जयः—अजेय; तितिक्षया—सहिष्णुता द्वारा; धरित्री—पृथ्वी; इव—के सदृश; द्यौः—स्वर्ग लोक के; इव—के सदृश; अभीष्ट-दः—इच्छाओं को पूरा करने वाले; नृणाम्—मानव समाज का।

महाराज पृथु इतने प्रबल तथा शक्तिमान थे कि उनके आदेशों का उल्लंघन करना मानो अग्नि को जीतना था। वे इतने बलशाली थे कि उनकी उपमा स्वर्ग के राजा इन्द्र से दी जाती थी जिसकी शक्ति अजेय है। दूसरी ओर महाराज पृथु पृथ्वी के समान सहिष्णु भी थे और मानव समाज की विभिन्न इच्छाएँ पूरी करने में वे स्वयं स्वर्ग के समान थे।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि प्रजा की रक्षा करे और उसकी इच्छाओं को पूरा करे। साथ ही प्रजा को चाहिए कि वह राज्य के नियमों का पालन करे। महाराज पृथु ने अच्छी सरकार के समस्त मानदण्ड बनाए रखे। वे इतने दुर्धर्ष थे कि उनके आदेशों का उल्लंघन वही कर सकता था, जो अग्नि से ताप तथा प्रकाश निकलना बन्द करा सके। वे इतने बलशाली थे कि उनकी तुलना स्वर्ग के राजा इन्द्र से की जाती थी। इस युग में आधुनिक विज्ञानी नाभिकीय हथियारों के विषय में प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु पहले के युग में ब्रह्मास्त्र छोड़े जाते थे। तो भी ये ब्रह्मास्त्र तथा नाभिकीय हथियार इन्द्र के वज्र की तुलना में नगण्य हैं। जब इन्द्र अपना वज्र छोड़ता है, तो बड़े से बड़ा पर्वत विदीर्ण हो जाता है।

दूसरी ओर महाराज पृथु पृथ्वी के समान सहिष्णु थे और वे अपनी प्रजा की सारी इच्छाओं की पूर्ति उसी तरह करते थे जैसे आकाश से जल की मूसलधार वर्षा गिरती है। बिना वर्षा के इस लोक पर विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१४) में कहा गया है—पर्जन्याद् अन्न सम्भवः—अन्न तभी उत्पन्न होता है जब आकाश से वर्षा होती है। बिना अन्न के पृथ्वी पर कोई सन्तुष्ट नहीं हो सकता। फलतः कृपा के अपार वितरण की तुलना बादलों से होने वाली जल-वर्षा से की गई है। महाराज पृथु वर्षा जल के ही समान निरन्तर अपनी कृपा का वितरण करते थे। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथु गुलाब के फूल से भी कोमल और वज्र से भी कठोर थे। इस प्रकार वे अपने साम्राज्य पर शासन करते थे।

वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन् ।

समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

वर्षति—बरसते; स्म—थे; यथा—कामम्—इच्छानुसार; पर्जन्यः—जल; इव—के सदृश; तर्पयन्—प्रसन्न करते हुए; समुद्रः—समुद्र; इव—के सदृश; दुर्बोधः—न समझ में आने वाला; सत्त्वेन—सत्तात्मक स्थिति से; अचल—पर्वत; राट् इव—राजा के समान।

जिस प्रकार वर्षा से हर एक की इच्छाएँ पूरी होती हैं उसी तरह महाराज पृथु सबों को तुष्ट रखते थे। वे समुद्र के समान थे, क्योंकि कोई उनकी गहराई (गम्भीरता) को नहीं समझ सकता था और उद्देश्य की दृढ़ता में वे पर्वतराज मेरु के समान थे।

तात्पर्य : दुखी मनुष्यों पर महाराज पृथु की दया अत्यधिक ताप के बाद जलवर्षा के समान होती थी। समुद्र इतना विस्तृत होता है कि इसकी लम्बाई तथा चौड़ाई नापना अत्यन्त कठिन होता है। इसी प्रकार पृथु महाराज इतने धीर तथा गंभीर थे कि कोई उनके प्रयोजनों की थाह नहीं पा सकता था। मेरु नामक पर्वत ब्रह्माण्ड की धुरी के समान स्थित है और कोई इसे एक इंच भी नहीं हिला सकता। उसी प्रकार महाराज पृथु के निश्चय कर लेने के बाद कोई उन्हें उस निश्चय से डिगा नहीं सकता था।

धर्मराडिव शिक्षायामाश्रये हिमवानिव ।

कुवेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

धर्म-राट् इव—यमराज (मृत्यु के अधीक्षक) के समान; शिक्षायाम्—शिक्षा में; आश्चर्ये—ऐश्वर्य में; हिमवान् इव—हिमालय पर्वत के समान; कुवेरः—स्वर्गलोक के कोषपति; इव—सदृश; कोश-आढ्यः—सम्पत्ति के स्वामी होने के मामले में; गुप्त-अर्थः—छिपाना; वरुणः—वरुण नामक देवता; यथा—जिस प्रकार।

महाराज पृथु की बुद्धि तथा शिक्षा मृत्यु के अधीक्षक यमराज के बिलकुल समान थी। उनका ऐश्वर्य हिमालय पर्वत से तुलनीय था, जहाँ सभी बहुमूल्य हीरे, जवाहरात तथा धातुएँ संचित हैं। उनके पास स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर के समान विपुल सम्पत्ति थी। वरुण देवता के ही समान उनके रहस्यों का किसी को पता न था।

तात्पर्य : यमराज या धर्मराज को मृत्यु के अधीक्षक के रूप में ऐसी-ऐसी पापी जीवात्माओं का निपटारा करना पड़ता है जिन्होंने जीवन भर पापकर्म किये हैं। फलस्वरूप यमराज को न्याय के मामले में पटु माना जाता है। पृथु महाराज भी अत्यधिक विद्वान् तथा नागरिकों का न्याय करने में अत्यन्त निष्पक्ष थे। उनके ऐश्वर्य की तुलना में हिमालय पर्वत के खनिज तथा रत्न ही ठहर सकते थे। अतः उनकी तुलना स्वर्ग के कोषाध्यक्ष कुवेर से की जाती है। उनके जीवन-रहस्यों का कोई भी पता नहीं लगा सकता था जिस प्रकार जल, रात्रि तथा पश्चिमी आकाश के अधिपति देव वरुण के रहस्यों का कोई पता नहीं लगा सकता। वरुण सर्वज्ञाता हैं और पापों के लिए दण्ड देने वाले हैं, अतः क्षमा के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है। वह रोगों को भेजने वाले तथा कभी-कभी मित्र एवं इन्द्र के संगी भी बताये जाते हैं।

मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन महसौजसा ।

अविषह्यतया देवो भगवान्भूतराडिव ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

मातरिश्वा—वायु; इव—सदृश; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; बलेन—शारीरिक बल से; महसा ओजसा—धैर्य तथा शक्ति से; अविषह्यतया—असहिष्णुता से; देवः—देवता; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान्; भूत-राट् इव—रुद्र या सदाशिव की तरह।

महाराज पृथु अपनी शारीरिक बल तथा ऐन्द्रिय शक्ति में वायु के समान बलशाली थे, जो कहीं भी तथा सर्वत्र आ जा सकता है। अपनी असह्यता में वे शिवजी या सदाशिव के अंश सर्वशक्तिमान रुद्र के समान थे।

कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव ।

वात्सल्ये मनुववृणां प्रभुत्वे भगवानजः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

कन्दर्पः—कामदेव; इव—सदृश; सौन्दर्य—सुन्दरता में; मनस्वी—विचारशीलता में; मृग-राट् इव—पशुओं के राजा सिंह के समान; वात्सल्ये—स्नेह में; मनु-वत्—स्वायम्भुव मनु के समान; नृणाम्—मानव समाज का; प्रभुत्वे—आधिपत्य, शासन करने के मामले में; भगवान्—स्वामी; अजः—ब्रह्मा ।

वे शारीरिक सुन्दरता में कामदेव के समान तथा विचारशीलता में सिंह के समान थे।

वात्सल्य में वे स्वायम्भुव मनु के समान थे और अपनी नियंत्रण-क्षमता में ब्रह्माजी के समान थे।

बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः

भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु ।

ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

बृहस्पतिः—स्वर्गलोक के पुरोहित; ब्रह्म-वादे—आध्यात्मिक ज्ञान में; आत्म-वत्त्वे—आत्म-नियंत्रण के मामले में; स्वयम्—साक्षात्; हरिः—श्रीभगवान्; भक्त्या—भक्ति में; गो—गाय; गुरु—गुरु; विप्रेषु—ब्राह्मणों में; विष्वक्सेन—भगवान्; अनुवर्तिषु—अनुयायी; ह्रिया—लज्जा से; प्रश्रय-शीलाभ्याम्—अत्यन्त भद्र आचरण से; आत्म-तुल्यः—अपने ही समान आप; पर-उद्यमे—परोपकारी कार्यों में।

पृथु महाराज के निजी आचरण में समस्त उत्तम गुण प्रकट होते थे। अपने आत्म-ज्ञान में वे ठीक बृहस्पति के समान थे। आत्म-नियंत्रण (इन्द्रियजय) में वे साक्षात् भगवान् के समान थे। जहाँ तक भक्ति का प्रश्न था, वे भक्तों के परम अनुयायी थे। जो गो-रक्षा के प्रति आसक्त और गुरु तथा ब्राह्मणों की सारी सेवा करते थे। वे परम सलज्ज थे और उनका आचरण अत्यन्त भद्र था। जब वे किसी परोपकार में लग जाते तो इस प्रकार कार्य करते थे मानो अपने लिए ही कार्य कर रहे हों।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से बात करने के बाद उन्हें बृहस्पति का अवतार कह कर सम्मानित किया था। बृहस्पति स्वर्गलोक के प्रमुख पुरोहित हैं और ब्रह्मवाद या मायावाद दर्शन के अनुयायी हैं। बृहस्पति महान् तर्क-शास्त्री भी हैं। इस कथन से प्रतीत होता है कि यद्यपि महाराज पृथु भगवान् की प्रेमाभक्ति में रहने वाले महान् भक्त थे, किन्तु वे अपने वैदिक शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान के बल पर सभी प्रकार के निर्विशेषवादियों तथा मायावादियों को परास्त कर सकते थे। हमें महाराज पृथु से सीखना चाहिए कि एक वैष्णव या भक्त को न केवल भगवद्भक्ति में स्थिर रहना चाहिए, वरन् आवश्यकता पड़ने पर निर्विशेषवादियों से तर्क करने तथा उन्हें इस मतपर कि परम सत्य निर्विशेष है, परास्त करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भगवान् आदर्श आत्मजयी या ब्रह्मचारी हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को अपने द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले राजसूय यज्ञ का अध्यक्ष चुना तो भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचारी कहकर प्रशंसा की थी। चूँकि भीष्म पितामह स्वयं ब्रह्मचारी थे, अतः वे व्यभिचारी तथा ब्रह्मचारी में अन्तर बताने के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। यद्यपि पृथु महाराज गृहस्थ और पाँच पुत्रों के पिता थे, फिर भी वे परम आत्मसंयमी माने जाते थे। जो व्यक्ति मानवता के लाभ हेतु कृष्णभक्त-पुत्र उत्पन्न करता है, वही वास्तविक ब्रह्मचारी है। जो कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे उपयुक्त पिता नहीं हैं। ब्रह्मचारी शब्द ब्रह्म पद से कार्य करने या भक्ति करने वाले के लिए भी आता है। निर्गुण ब्रह्म विचार में कोई गतिशीलता नहीं होती, किन्तु जब भगवान् के सम्बन्ध में कोई कार्य करता है, तो वह ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार पृथु महाराज एकसाथ आदर्श ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ थे। विष्वक्सेनानुवर्तिषु उन भक्तों का सूचक है, जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। अन्य भक्तों को भी इनका अनुसरण करना चाहिए। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है—एइ छय गोसाजि याँर, मुजि तॉर दास—वे छहों गोस्वामियों के पदचिह्नों पर चलने वाले किसी का भी शिष्य बनने को तैयार हैं।

यही नहीं, समस्त वैष्णवों की भाँति महाराज पृथु गो-रक्षा, गुरुओं तथा योग्य ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धालु थे। वे अत्यन्त विनम्र तथा भद्र भी थे और जब भी वे जनता के लिए कोई परोपकारी या कल्याणकारी कार्य करते तो वे उसी प्रकार परिश्रम करते मानो वह उनका निजी कार्य हो। दूसरे शब्दों में, उनके परोपकारी कार्य दिखावे के लिए नहीं होते थे, अपितु निजी भावना तथा निष्ठा से किये जाते थे। समस्त परोपकारी कार्य इसी तरह किये जाने चाहिए।

कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह ।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

कीर्त्या—कीर्ति से; ऊर्ध्व-गीतया—उच्च घोषणा द्वारा; पुम्भिः—सामान्य जनता द्वारा; त्रै-लोक्ये—ब्रह्माण्ड भर में; तत्र तत्र—सर्वत्र; ह—निश्चय ही; प्रविष्टः—प्रवेश करते हुए; कर्ण-रन्ध्रेषु—कान के छेदों में; स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; रामः—भगवान् रामचन्द्र; सताम्—भक्तों के; इव—सदृश।

सारे ब्रह्माण्ड भर में—उच्चतर, निम्नतर तथा मध्य लोकों में—पृथु महाराज की कीर्ति उच्च स्वर से घोषित की जा रही थी। सभी महिलाओं तथा साधु पुरुषों ने उनकी महिमा को सुना जो

भगवान् रामचन्द्र की महिमा के समान मधुर थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्त्रीणाम् तथा रामः शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियाँ कुछ वीरों की प्रशंसा को बड़े ही ध्यान से सुनती और उसका आनन्द लेती हैं। इस श्लोक से लगता है कि पृथु महाराज की ख्याति इतनी व्यापक थी कि ब्रह्माण्ड-भर की स्त्रियाँ उसे अत्यन्त चाव से सुनती थीं। साथ ही उनकी महिमा ब्रह्माण्ड भर में भक्तों को भी सुनाई पड़ती थी जो भगवान् रामचन्द्र की महिमा के ही समान सुख देने वाली थी। भगवान् रामचन्द्र का राज्य आज भी विद्यमान है और भारत में तो रामराज्य दल नामक राजनीतिक दल भी बन गया था, जो राम के राज्य के ही समान राज्य स्थापित करना चाहता था। दुर्भाग्यवश आधुनिक राजनीतिज्ञ रामराज्य तो चाहते हैं, किन्तु राम से विहीन। यद्यपि उन्होंने ईश्वरभक्ति के विचार को समाप्त कर दिया है, तो भी वे रामराज्य स्थापित करना चाहते हैं। ऐसे प्रस्ताव भक्तों को अमान्य हैं। पृथु महाराज की ख्याति साधु पुरुषों द्वारा इसलिए सुनी जाती थी, क्योंकि वे आदर्श राजा रामचन्द्र का ही प्रतिनिधित्व करते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “चारों कुमारों से पृथु महाराज की भेंट” नामक बाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।